आदिवासी साहित्य
परंपरा और प्रयोजन

वंदना टेटे

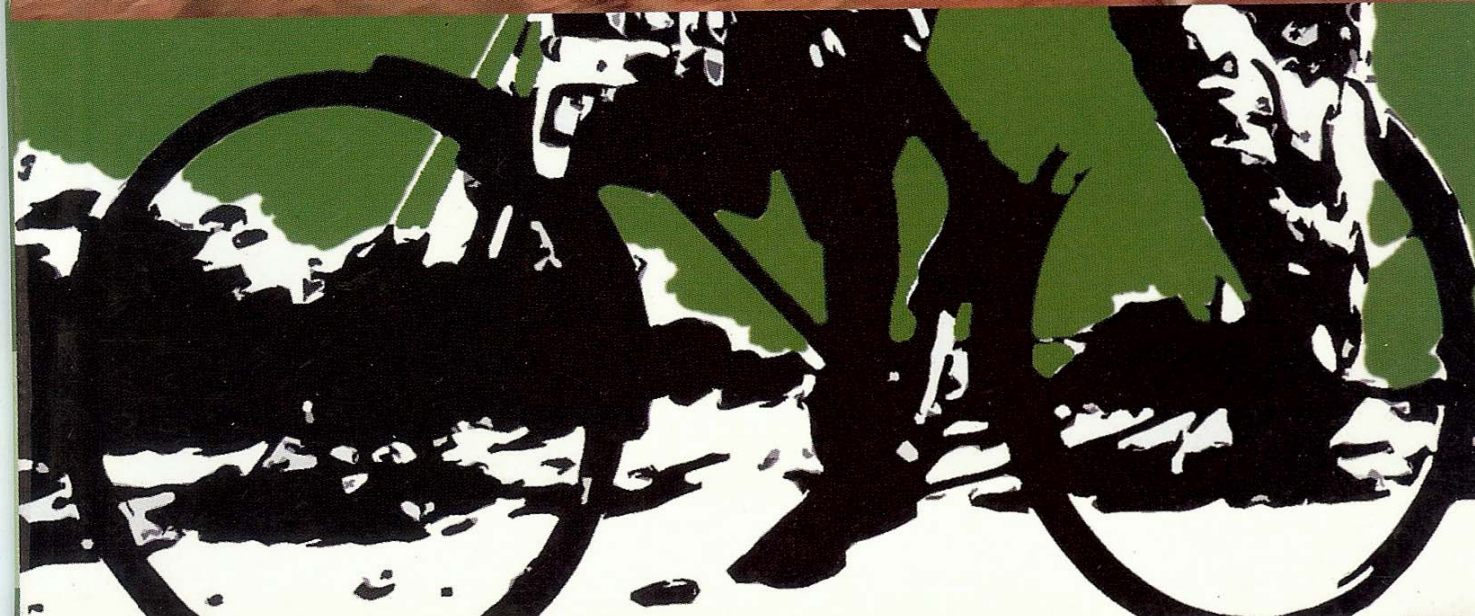

आदिवासी साहित्य
परंपरा और प्रयोजन

आदिवासी साहित्य
परंपरा और प्रयोजन

वंदना टेटे

PYARA FOUNDATION
प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन
राँची (झारखण्ड)

हमने पानी आग देखा है [1]

रचाव-बचाव के साहित्य और आदिवासी समाज के विमर्श के विभिन्न पहलुओं पर यह मेरी दूसरी पुस्तक है। इसमें हमारे उन लेखों का प्रकाशन है जो पत्र-पत्रिकाओं में छपी हैं या फिर उन्हें मैंने देश के विभिन्न अकादमिक सेमिनारों में पढ़ी हैं। अपने इन लेखों में हमने आदिवासी साहित्य की अवधारणा और उसके प्रयोजनों को रखने की कोशिश की है। आदिवासी विमर्श के शुरू हो रहे अकादमिक दौर की दृष्टि से इन लेखों और उनमें व्यक्त विचारों पर अकादमिक जगत और आदिवासी विश्व एवं गैर-आदिवासी विश्व के रचनाकारों व अध्येताओं का ध्यान जाए, यही हमारा अभिष्ट है। यह इसलिए भी कि विमर्श की शुरुआत में ही कुछ चीजों का साफ होना बेहद जरूरी है। गैर-आदिवासी विश्व के मुहावरों और लोक लुभावन नारों में फंसना एक सामान्य प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को शासक वर्ग शिक्षा, संस्कृति और परंपरा के विभिन्न माध्यमों व उपक्रमों के जरिए प्रोत्साहित करते हैं।

विमर्श की विशेष संस्कृति भी हमारी नहीं है। जिसमें कुछ विशेषज्ञ लोग अपने पुस्तकीय ज्ञान और बहुत हुआ तो भ्रमणकारी अनुभवों के आधार पर अवधारणाओं के नये डिजाइन बनाते हैं या फिर पुराने डिजाइनों में अपने मन मुताबिक फेरबदल करते रहते हैं। आदिवासी ज्ञान परंपरा में विमर्श भी एक उन्मुक्त और सतत चलनेवाली, जीवन से जुड़ी हुई प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में विशेषज्ञों की बजाय संपूर्ण गांव-समाज और समुदाय समान रूप से भागीदार होता है। हर आयु वर्ग और अनुभव समूह के आम लोग। विमर्श हमारे लिए प्रतिदिन का व्यवहार है जैसे हम दूसरे दैनिक कार्यों को संपन्न करते हैं।

लेकिन गैर-आदिवासी विश्व की ज्ञान एवं शिक्षा परंपरा और प्रणाली दूसरे तरह की है। जहां ज्ञान और बौद्धिकता पर खास लोगों का प्राधिकार होता है और वे ही सत्ता के निर्देशों अथवा जनसमूहों के दबावों में विमर्श के विषयों को तय करते हैं, उनके लिए अकादमिक एवं बौद्धिक जगत में पहलकदमी लेते हैं। इसलिए आज अगर अकादमिक स्तर पर आदिवासी विमर्श को स्वीकृति मिल गयी है और देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं उच्चतर शिक्षण संस्थानों में आदिवासी विषय को विमर्श की केन्द्रिय परिधि में लाया जा रहा है तो हमें बहुत सचेतनता के साथ इस प्रक्रिया में शामिल

मूल्य : 120
सर्वाधिकार © लेखक

प्रकाशक:
प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, चेशायर होम रोड, बरियातु, राँची-834009,
दूरभाष : 9234301671, ई-मेल : pkfranchi@gmail.com,
वेब पता : www.kharia.in प्रथम संस्करण : अप्रैल 2013
टाईपसेटिंग/आवरण : आधार अल्टरनेटिव मीडिया (आम) 9234301671

ADIVASI SAHITYA : PARAMPRA AUR PRAYOJAN
(A literary critism in Hindi by **Vandna Tete**)

ISBN : 978-93-81056-37-0

कतार

9. | आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन

24. | देशज साहित्य में देशज महिलाएँ

37. | पुरखौती और शिष्ट साहित्य की
आदिवासी दुनिया

49. | आदिवासी स्त्री संघर्ष के
समर्थ संताली कथाकार के.सी. टुडु

54. | आदिवासी साहित्य रच रहा है
मानवीय गरिमा वाला विश्व

58. | भाषा, संस्कृति, जमीन और आदिवासी

62. | हमने सरकार को झुकाया है

65. | भाषा, साहित्य और आदिवासी स्त्रियां

80. | आदिवासी साहित्य प्रतिरोधी नहीं
रचाव-बचाव का साहित्य है

90. | सहजीवी समझ का विस्तार हैं
आदिवासी कलाएँ

होने और उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है। निश्चित रूप से यह विमर्श इसीलिए शुरू हो पाया है क्योंकि गैर-आदिवासी विश्वव्यवस्था से आदिवासी समाज की ऐतिहासिक असहमतियां और शहीदी मुठभेड़ें अब निर्णायक मंजिल के करीब आ पहुंची हैं। शासक वर्ग के सरकारों की इस स्वीकारोक्ति कि आदिवासी देश की आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा बन चुके हैं में हम उनको टूटते हुए सुन सकते हैं।

इस रचाव-बचाव के दौर में कुछ 'आदिवासी' साहित्यकार और बुद्धिजीवी जिनका सामाजिक वर्ग बदल रहा है या बदल चुका है, गैर-आदिवासी विश्वव्यवस्था की वर्चस्ववादी संस्कृति की शब्दावलियों का इस्तेमाल कर विमर्श को बहुत ही सूक्ष्म ढंग से हमारे ही खिलाफ ले जाने की कोशिश में लग गये हैं। व्यवस्था के पद-प्रतिष्ठा और पुरस्कारों से लदे-फदे ये बुद्धिजीवी व्यवस्था के साथ सामंजस्य बनाने की सलाह दे रहे हैं। उनका कहना है आदिवासी अविकसित और पिछड़े हुए हैं इसलिए उन्हें कुछ बदलावों के साथ विकास को स्वीकार कर लेना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि आदिवासी समाज और साहित्य मुख्यधारा (गैर-आदिवासी विश्व) से अनुकूलन करके ही आधुनिक सभ्यता का लाभ उठा सकता है। आदिवासी पिछड़ेपन के लिए वे व्यक्ति केन्द्रित इतिहास नायकों की अनुपस्थिति को भी बार-बार रेखांकित करते हैं। अपने हर लेख और साक्षात्कार में किसी मसीहा के होने की जरूरत पर बल देते हैं।

इस परिदृश्य में विमर्श की पहली आवश्यकता आदिवासी साहित्य की अवधारणा को मजबूती से रेखांकित करना है जिसमें व्यक्ति की बजाय सामूहिक जीवनदर्शन को आदिकाल से सर्वोपरि मानने की हमारी परंपरा रही है। हमारे लिए मिथकों और ऐतिहासिक संदर्भों का अर्थ सिर्फ इंसान और उसकी आत्मिक-भौतिक आवश्यकताएं कभी नहीं रहीं। पूरी समष्टि, जिसमें प्रकृति भी एक सर्वोच्च नियामक व्यवस्था है, आदिवासी विश्व का दार्शनिक केन्द्र रहा है और हमेशा रहेगा। साहित्य भी इस दार्शनिक केन्द्र में कोई स्वतंत्र ईकाई नहीं है बल्कि वह भी सभी कला रूपों के साथ ही अविभाज्य रूप से जुड़कर समग्र अभिव्यक्ति का एक भागीदार बनता है।

वंदना टेटे

1. 'दअः सेंगेलले लेलकेदा' : एक मुण्डारी कहावत जिसका अर्थ है हमने पानी आग देखा है. अर्थात् हमारा अनुभव संसार बहुत बड़ा है.

आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन

हाय रे मछली,
तू कहां जायेगी रे मछली।
तू कहां जायेगी रे मछली।
नीचे कुमनी ऊपर झिमरी (जाल),
तू कहां जायेगी रे मछली?

(एक खड़िया आदिवासी गीत)

शेष दुनिया में साहित्य का जो स्थान है और इसके उद्देश्य को लेकर जो भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं, क्या साहित्य का वही महत्व आदिवासियों के लिए भी है? या आदिवासी समाज में शेष दुनिया से कोई अलग संकल्पना है साहित्य को लेकर। जब हम यह स्वीकार कर चुके हैं कि आदिवासी विश्व और शेष विश्व में जीवनदर्शन और संस्कृति के स्तर पर कोई साम्यता नहीं है तथा दोनों दो सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं के प्रतिनिधि हैं, फिर अभिव्यक्ति और साहित्य के स्वरूप और अवधारणाएं कैसे एक हो सकती हैं। क्योंकि साहित्य की जो स्वायत्त और नियंत्रणकारी भूमिका गैर-आदिवासी विश्व में है, ठीक वैसी ही निर्णायक और स्वायत्त भूमिका आदिवासी समाज में नहीं है। वेद से लेकर आज तक रचा जा रहा साहित्य गैर-आदिवासी विश्व के जीवनदर्शन, मूल्यों और परंपराओं को संरक्षित, प्रसारित एवं परवर्द्धित करने का काम बखूबी और वैधानिक रूप से कर रहा है। परंतु साहित्य की ऐसी स्वायत्त और स्वतंत्र वैधानिक भूमिका आदिवासी विश्व में न वाचिक परंपरा में है और न ही अब की लिखित परंपरा में। इसलिए जब हम आदिवासी साहित्य की परंपरा और उसके प्रयोजन पर बात करने जा रहे हैं, हमें यह देख

से उच्च स्तर तक के पठन-पाठन सामग्रियां तथा भारत की समूची अध्ययन प्रणाली और परंपरा शास्त्रों पर आधारित है। दरअसल, शास्त्र रचे ही जाते हैं व्यवस्था की राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए। विचारधाराओं के सुनियोजित व व्यवस्थित प्रचार-प्रसार के लिए। क्योंकि 'कोई भी विचारधारा प्रतीकों, बिंबों, आस्थाओं, भावनाओं, विचारों और प्रवृत्तियों की समग्र प्रणाली होती है जिसके जरिए हम विश्व की और विश्व में अपनी स्थिति की व्याख्या करते हैं। यह प्रायः संस्कृति के या सांस्कृतिक व्यवहार के आवरण में लिपटी होती है। लेकिन यह किसी नस्ल अथवा राष्ट्र के सत्ताधारी वर्ग के सचेत कार्यक्रम के रूप में पुस्तकों के आवरण में भी लिपट कर आ सकती है। विचारधारा का एक भौतिक आधार होता है और इस भौतिक आधार को वह परिशुद्धता के अलग-अलग अनुपात में अभिव्यक्त करती है। यह इस बात पर निर्भर होता है कि उस समाज के भौतिक आधार और विचारधारा पर उस नस्ल अथवा राष्ट्र के किस वर्ग का नियंत्रण है'।[2] नौम चॉमस्की के शब्दों में कहें तो शासक वर्ग नियंत्रित शास्त्रों का एकमात्र लक्ष्य होता है, 'लोगों के दिमागों को अपनी सरकार के साथ' तथा और भी सामान्य रूप से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के साथ 'सकारात्मक जुड़ाव के लिए प्रशिक्षित करना'।[3]

यही वजह है कि शास्त्र और शास्त्रीयता ही शासकीय स्तर पर प्रतिष्ठित है और अर्द्ध-सामंती अवस्था से लेकर साम्राज्यवाद के नये सोपान तक उसे ही शासक वर्गों का संरक्षण प्राप्त है। इस शास्त्रीयता से बहिष्कृत जन परंपराएं जब अपने अस्तित्व की बात करती हैं तो यह कहकर उनका गला घोंट दिया जाता है कि लोक शास्त्र में ही समाहित है। शास्त्रीय राजनीति की इस भूमिका पर सवाल उठाते हुए श्यामा चरण दूबे भी कहते हैं, 'भारतीय परंपरा को वेद, पुराण और शास्त्रों से जोड़ने की प्रवृत्ति रही है और हम आज भी उसके सम्मोहन से मुक्त नहीं हो सके हैं। इन महान ग्रंथों को हम मानव-सभ्यता की महान उपलब्धियां मानते हैं, जो वे निःसंदेह हैं। उनके संबंध में प्रश्न दूसरा है। क्या वे अपने समय का भी सही चित्रण करते हैं? वे आदर्श समाज को प्रक्षेपित करते हैं या जीवित समाज का वर्णन करते हैं? क्या पूरा भारतीय समाज उनमें सिमट आया है? या, उनमें चित्रित परंपरा के अतिरिक्त अन्य स्वतंत्र परंपराएं भी इस देश में थीं -- जनजातीय, व्रात्य

जानकर पक्का कर लेना होगा कि आदिवासी विश्व के लिए साहित्य के क्या मायने हैं और शेष विश्व के लिए क्या?

शेष विश्व में साहित्य और कला पर मुख्यतः दो तरह की दृष्टियों से हमारी मुलाकात होती रही है। एक वर्ग मानता है कि साहित्य या कला का प्रयोजन सिर्फ कला है। दूसरा वर्ग इससे सहमत नहीं है। उसका कहना है कि साहित्य या कला का प्रयोजन जीवन है। सिर्फ कला नहीं। शेष विश्व का बहुसंख्यक बुद्धिजीवी इसी प्रयोजन को दृढ़ता के साथ स्वीकार करता है और इसी दृष्टि के साथ साहित्य और अन्य कला रूपों के सृजन में संलग्न है। इन दोनों विचारों में से किसी एक का समर्थन अथवा चयन करने की बात है तो निःसंदेह हम आदिवासी लोग भी दूसरी अवधारणा के साथ ही रहना पसंद करेंगे। यही दृष्टि हमारे आदिवासीयत यानी कि आदिवासी जीवनदर्शन के करीब है। लेकिन 'साहित्य जीवन के लिए है' इस अवधारणा से अपनी नजदीकी के बावजूद यह ध्यान रखना होगा कि साहित्य आदिवासी जीवन का प्रमुख नियंता नहीं है। आदिवासी परंपरा में शासक की कोई अवधारणा नहीं है। इसलिए साहित्य भी हमारा शासक नहीं है। जबकि गैर-आदिवासी विश्व वैदिक युग से आज तक शास्त्र यानी कि साहित्य के द्वारा शासित होता आ रहा है। वहां शास्त्र सर्वोपरि है। शास्त्र की पूजा करता है गैर-आदिवासी समाज और रामायण, गीता, कुरान, बाइबिल आदि ग्रंथ पूजनीय माने जाते हैं। यहां तक कि सुधारपंथी शाखा 'सिक्ख' भी 'गुरुग्रंथ साहिब' को मत्था टेकता है। सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री श्यामा चरण दूबे बताते हैं, गैर-आदिवासी विश्व में 'परंपरा का आधार शास्त्र भी हैं, लोक भी; किंतु कुछ दृष्टियां शास्त्र को महत्व देती हैं, कुछ लोक को। ग्रीक, चीनी, भारतीय और इस्लामी परंपराओं का चित्रण कुछ आधार ग्रंथों के सहारे किया गया है। प्राच्यविद्, भारतविद्, संस्कृतज्ञ और दार्शनिक भारतीय परंपरा और उसके मूल स्वरों की तलाश शास्त्रों और अन्य धर्म ग्रंथों में करते आये हैं'।[1]

शास्त्र (साहित्य) और अ-शास्त्र (अ-साहित्य) का जो यह महत्वपूर्ण भेद है, यही वह मुख्य भेदक अथवा विभाजक रेखा है जिसके एक ओर आदिवासी विश्व है, तो दूसरी ओर शेष विश्व। इस पक्के विभाजन को समझे बिना हम तय नहीं कर सकते कि दोनों समाजों में साहित्य की क्या और कैसी वास्तविक भूमिका है। हम अच्छी तरह से यह जानते हैं कि प्राथमिक स्तर

गीतों में, कहानियों में, संगीत में, चित्रकला में, या भाषा अथवा अभिव्यक्ति के किसी अन्य प्रकट-अप्रकट रूप में? धार्मिक विश्वासों या रीति-रिवाजों में? सामूहिकता की संस्कृति में या फिर प्रकृति में? इस सवाल का सहज जवाब है समूची समष्टि में। जीवन, समाज और प्रकृति के हर व्यवहार और प्रकार में। जीवन और प्रकृति के सभी अवयव मिलकर उसे निर्देशित और संचालित करते हैं। उसके दर्शन का मूलाधार कोई एक तत्त्व नहीं है। न साहित्य, न भाषा, न संगीत, न कला और न ही अकेली प्रकृति। आदिवासी विश्व धार्मिक विश्वासों और आस्थाओं से भी उस तरह से नियंत्रित नहीं होता जैसा कि अन्य गैर-आदिवासी धार्मिक समाज हुआ करते हैं। सार रूप में कहा जाय तो आदिवासी विश्वदृष्टिकोण उस परंपरा का प्रतिनिधि है जो संस्कृति, इतिहास और जातीय बोध के साथ-साथ प्रकृति के गतिशील ऐतिहासिक नियमों-अनुभवों-परिवर्तनों से निर्मित होती है। जैसा कि ल्यूसिएं गोल्डमान भी सजगता के साथ बताते हैं, 'कुछ ऐसे सामाजिक समूह हैं (और अनुभवजन्य शोध से यह सिद्ध हो गया है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में ये समूह प्रायः सामाजिक वर्ग ही रहे हैं) जिनकी आकांक्षाएं तथा आवश्यकताएं या तो सभी अंतर्मानवीय संबंधों की संपूर्ण संरचना के अनुरूप होती हैं या फिर मानव एवं प्रकृति के बीच पाए जाने वाले संबंधों के अनुरूप।'[6]

इंसान और प्रकृति के बीच कम से कम टकराव वाले अंतर्मानवीय संबंधों की इस परंपरा में निहित दर्शन को जानीमानी सामाजिक कार्यकर्ता हेलेना नॉबर्ग-होज़, जिन्होंने लद्दाखी आदिवासियों के साथ अपने जीवन का लंबा समय साझा किया है, इस तरह से रेखांकित करती हैं, 'लद्दाखी (आदिवासी) इस मामले में भाग्यशाली हैं कि उन्होंने विरासत में एक ऐसा समाज पाया है जिसमें व्यक्ति की भलाई से पूरे समुदाय की भलाई का टकराव नहीं होता; एक व्यक्ति का लाभ, दूसरे व्यक्ति का नुकसान नहीं होता। परिवार एवं पड़ोसियों से लेकर अन्य गाँवों के सदस्यों बल्कि अजनबियों तक, लद्दाखी जानते हैं कि अन्यों की सहायता करना स्वयं उनके अपने हित में है।'[7] व्यक्ति की भलाई से पूरे समुदाय की भलाई का टकराव का नहीं होना जिस परंपरा का आंतरिक चरित्र हो और जो दूसरों की सहायता को अपना हित मानता हो, ध्यान दीजिए, यह उस आदिवासी विश्व की विशेषता है जो अ-शास्त्रीय है। अलिखित है। वह किसी भी पवित्र-अपवित्र

और क्षेत्रीय? ... ये प्रश्न असुविधाजनक हैं क्योंकि वे शताब्दियों द्वारा पोषित मान्यताओं का खंडन करते हैं। इन ग्रंथों में अपने समय का सही अंकन भी नहीं है। उनमें आर्य-पूर्व संस्कृतियों की उपलब्धियों का आकलन तो क्या, उल्लेख भी नहीं है। इस देश में जो विराट परंपरा विकसित हुई, उसने इन संस्कृतियों से भी बहुत कुछ लिया था। जनजातीय और क्षेत्रीय परंपराएं इस देश में सदा सशक्त रही हैं; उनकी अलग पहचान थी और आज भी है।'[4]

इस तरह के समुदाय ने एक साझी भौगोलिक पृष्ठभूमि में एक ही तरह के कार्य को बार-बार करते हुए एक समान जीवन पद्धति का विकास किया जिसकी अभिव्यक्ति उनकी भाषाओं, नामकरण की प्रणाली, उनके नृत्यों, गीतों, धर्म, कला, साहित्य और समूची शिक्षा प्रणाली में हुई। उनकी संस्कृति ने, जिसके बारे में हम चर्चा कर रहे हैं एक ऐसे सामाजिक निकाय का रूप लिया जो उन मूल्यों का वाहक बनी जो उन्होंने अपने आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आचरणों के दौरान विकसित किए थे। कोई भी संस्कृति सही और गलत, अच्छा अथवा बुरा, सुंदर और असुंदर और इसके अलावा सम्मान, साहस, गौरव, वीरता जैसी ढेर सारी अवधारणाओं की वाहक और संप्रेषक होती हैं जिन्हें वस्तुतः इंसानी समझा जाता है। इन मूल्यों का समूचा ढांचा प्रायः उस समुदाय की निजी चेतना के आधार का निर्माण करता है। इसी से पता चलता है कि वह एक विशिष्ट समुदाय है और इसके सदस्यों की चेतना दूसरे समुदाय के सदस्यों की चेतना से भिन्न है।[5]

स्पष्ट है कि आदिवासी विश्व शास्त्र विरूद्ध समाज नहीं है तो वह शास्त्रसम्मत समाज भी नहीं है। हालांकि गैर-आदिवासी विश्व के ग्रंथों में इस आशय की अनेकों कहानियां है कि जनजातीय असुर समाज किसी शास्त्र को नहीं मानते थे और वे धार्मिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञ विरोधी थे। जबकि आज हजारों वर्ष बाद भी गैर-आदिवासी विश्व मनुस्मृति जैसे अप्रासंगिक शास्त्र और उन धार्मिक ग्रंथों से नियंत्रित और संचालित हो रहे हैं जिनमें हिंसा, नस्लीय भेदभाव और स्त्री उत्पीड़न को महिमामंडित किया गया है।

यह समझबूझ लेने के बाद कि आदिवासी विश्व शास्त्र शासित नहीं है तो फिर वह कौन-सी और कैसी परंपरा है जो उसे गतिशील और जीवंत बनाए हुए है? आदिवासी समाज की जीवंतता का प्राण तत्त्व ज्ञान और विधान के किस परंपरागत रूप में संरक्षित और प्रवाहित है? पुरखा (लोक)

ऐतिहासिक यथार्थ' की अनदेखी की जाती है तथा उन्हें 'नये मिथकों और प्रतीकों' से जोड़कर 'व्याख्या का विभ्रम' फैलाया जाता है। जैसा कि आदिवासी विश्व के अन्य परंपराओं की ही तरह हम साहित्य की आदिवासी परंपरा में भी देखते हैं। आदिवासी साहित्य की परंपरा को गैर-आदिवासी विश्व की साहित्यिक परंपरा के तथ्यों और मानदंडों के आधार पर देखा जाना 'व्याख्या का विभ्रम' ही है। क्योंकि साहित्य आदिवासी विश्व में बिल्कुल वही स्थान नहीं रखता जो गैर-आदिवासी समाज में है। अगर हम सिर्फ अभिव्यक्ति और कला रूपों के ही संदर्भ में साहित्य की भूमिका पर विचार करें तो यह पाएंगे कि आदिवासी कला परंपरा में साहित्य एक स्वायत्त ईकाई नहीं है। आदिवासी कला परंपराओं में लेखक-गीतकार, संगीतकार, नर्तक और गायक अलग-अलग स्वतंत्र ईकाइयां न पहले थी, न आज हैं। मुख्यतः आदिवासी कला परंपरा विविध कला रूपों का एक समुच्चय है जिसमें सभी कला विधाओं के साथ-साथ प्रकृति की भी एक प्रमुख और सुनिश्चित भूमिका होती है। आदिवासी विश्व की कला परंपरा में गाने के लिए नाचना जरूरी है, नाचने के लिए बजाना जरूरी है, बजाने के लिए गाना जरूरी है। और गाना, नाचना, बजाना परिवेश के बगैर संभव नहीं है। परिवेश यानी कि प्रकृति। इन सबके एक सुर और ताल में सज जाने पर ही गीतों की रचना होती है या फिर पुराने गीत में नये बोल स्वतः जुड़ने लगते हैं। इस प्रकार साहित्य यानी कि गीत की रचना इन सभी कला रूपों के सम्मिलन का अंतिम परिणाम होती है। यहां एक कला रूप का दूसरे के साथ अन्योनाश्रित संबंध है। सहअस्तित्व और सहभागिता के बिना किसी भी एक रूप का उद्घाटन संभव नहीं है। इसी कारण परंपरागत रूप से एकल गायकों, वादकों, नर्तकों और रचनाकारों की कोई विशिष्ट दुनिया आदिवासी समाज में स्थापित नहीं है।

सामान्य तौर पर यह विशिष्ट आदिवासी कला परंपरा गैर-आदिवासी विश्व के शास्त्रीय परंपरा और प्रणाली में फिट नहीं बैठती। इसीलिए वे अपने विभाजित समाज और साहित्य-कला की तरह उसे भी 'लोक साहित्य' एवं 'लोक कला' की परिधि में रखते हैं। लोक की परिधि के भीतर ही आदिवासी साहित्य परंपरा और उसके प्रयोजन को व्याख्यायित करने का आग्रह कर रहे हैं। आदिवासी समाज और उसके साहित्य के अग्रणी विद्वान डॉ. दिनेश्वर प्रसाद शेष विश्व की मूल्यांकन पद्धति के आग्रहों को ठुकराते हुए कहते हैं,

ग्रंथ का अनुगामी नहीं है।

आदिवासी विश्व के इस अ-शास्त्रीय संरचना को समझने के लिए हमें परंपरा, संस्कृति और जातीय विशिष्टता के पहलुओं पर गहराई से नजर डालनी होगी। अक्सर हम तीनों को लेकर उलझ जाते हैं। जबकि विशेषज्ञ अध्येता साफ तौर पर कहते हैं, 'परंपरा, संस्कृति, और जातीय भावना पर्यायवाची नहीं हैं, किंतु राजनीतिकरण की प्रक्रिया ने उनके अंतर को धुंधला कर दिया है। परंपरा संस्कृति का वह भाग है जिसमें भूतकाल से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य तक एक निरंतरता बनी रहती है। यह जरूरी नहीं है कि परंपरा जीवन के हर क्षेत्र में समान रूप से प्रभावी हो। धार्मिक विश्वासों और रूढ़ियों की परंपराओं में परिवर्तन धीमी गति से होते हैं, सामाजिक संस्थाओं और व्यवहार की परंपराओं के कुछ पक्षों में, धर्म की तुलना में, बदलाव की गति अधिक तेज हो सकती है यद्यपि यह भी मंद गति का क्षेत्र है। साहित्य तथा रूपंकर और प्रदर्शनकारी कलाओं के क्षेत्रों में परंपराओं के प्रयोगों और नवाचारों से प्रभावित होने की संभावना अधिक होती है। भाषा की परंपरा तेजी से बदलती है। संस्कृति की संज्ञा मानव के सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों को दी जाती है। वैसे तो संस्कृति का पूरा स्वरूप ही ऐतिहासिक संदर्भों से निर्मित होता है, किंतु उसके ऐसे मूल्यों और व्यवहार-प्रकारों को, जिनकी जड़ें इतिहास में बहुत गहरी हैं, परंपरा कहा जाता है। जातीय भावना, अपने मूल अर्थ में, विशिष्ट नृवंशीय शाखाओं से जुड़े संवेदानात्मक लगाव को कहा जाता था। आज की बदली हुई परिस्थिति में क्षेत्रीय, भाषिक, सांस्कृतिक और धार्मिक तत्त्व उसमें इस तरह मिल गये हैं कि जातीय भावना की व्याख्या उलझनभरी और अनिश्चित हो गयी है। इन तीनों अवधारणाओं -- परंपरा, संस्कृति, और जातीय भावना -- के संबंध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि आंशिक रूप से ये तथ्यों पर आधारित किंतु मुख्यतः मानसिक पुनर्रचनाएं होती हैं। नये संदर्भ उन्हें नया मोड़ देते हैं, विशेष स्थितियों में उनके अर्थ और प्रकार्य भी बदल जाते हैं। व्याख्या का विभ्रम उस समय अपनी सीमा पर पहुंच जाता है, जब पुनर्रचना की प्रक्रिया ज्ञात सामाजिक तथ्यों और ऐतिहासिक यथार्थ से कटकर नये मिथकों और प्रतीकों को अपना लेती है।[8]

विचारणीय पहलु यह है कि इस समझ के बावजूद आदिवासी विश्व के व्यवहार और प्रकारों की पुनर्रचना करते हुए 'ज्ञात सामाजिक तथ्यों और

विश्व में अप्रासंगिक है? असमानता और भेदभाव से जूझती दुनिया को क्या एकदूसरे को पछाड़ कर ही बेहतर, समतामूलक और इंसानी बनाया जा सकेगा? इसे समझने के लिए आइए हम आदिवासियों के उस साहित्य पर नजर डालें जिसे पिछड़ा हुआ 'लोक' माना जा रहा है। देखने-समझने की कोशिश करें कि इस पिछड़े हुए 'लोक' में वर्णित परंपराएं क्या सचमुच में ऐसी हैं कि आज के संदर्भ में उनका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता? न्यूगी वा थ्योंगो इस संदर्भ में कहते हैं, 'मौखिक परंपरा बहुत समृद्ध और बहुआयामी है ... यह कला कल समाप्त नहीं हो गई, यह एक जीवंत परंपरा है ... मौखिक साहित्य से अगर परिचय हो तो नई संरचनाओं और तकनीकों की जानकारी मिलती है, इससे ऐसी मानसिक प्रवृत्ति का भी निर्माण होता है जो नये-नये रूपों के साथ प्रयोग करने को प्रेरित करती है।'[11]

तोद केदम रोहोई केदम/गाची गाची हेर हेद में।

(तुमने रोपी है नई पौध/उखाड़ फेंको अब धान के बिरवों के बीच उग आए फिजूल घास-पात)

यह संताल आदिवासी समुदाय द्वारा 'बाहा' पर्व के अवसर पर गाया जानेवाला एक गीत है। महज दो पंक्तियां हैं। लेकिन इन दो पंक्तियों में नये पौधों के संरक्षण और विकास के लिए नुकसान पहुंचानेवाले घास-पात को उखाड़ डालने की बात कही गयी है। साधारण तौर पर इसका अर्थ खेती-किसानी से जुड़ा है। जबकि इसका दूसरा और व्यापक अर्थ समुदाय और उसके सामाजिक हित की रक्षा का है।

ताड़ के पत्ते पर रेशम के कीड़े नहीं पलते, वहां कीड़ा मर जाता है।

संताली गीत की ही तरह इस मुंडारी गीत का आशय भी वही है। भावी पीढ़ी का विकास नैसर्गिक ढंग से हो सके इसके लिए परिवेश और पर्यावरण अनुकूल बना रहे। हालांकि इस समझदारी, एकजुटता और दायित्व निर्वाह के बावजूद उनका अस्तित्व बाहरी हमलों से नहीं बच पाता। प्राकृतिक संसाधनों की लूट होती है। वृक्ष काटे जाते हैं। जंगलों की नीलामी होती है। आदिवासी समुदाय इस नीलामी से पीड़ित है। मानो उसके संबंधियों को मारा और गुलाम बनाया जा रहा है। प्रस्तुत बिरहोरी गीत में सहजता से इस मार्मिकता का वर्णन हुआ है -

नदी के इस पार बज रही है बांसरी

'हर समाज की काव्यात्मक अभिव्यक्ति अपने ढंग की होती है। उसके अपने कलात्मक प्रतिमान होते हैं और इसीलिए किसी अन्य जाति या समाज के गीत या कविता के प्रतिमानों के आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए'।[9] पर अपने पूर्वाग्रहों से बाहर आकर गैर-आदिवासी विश्व यह समझने को बिल्कुल तैयार नहीं है कि आदिवासी समाज में लोक और शास्त्र जैसा कोई पक्का तो क्या, कच्चा विभाजन भी नहीं है। तटस्थ समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन की कोशिशों का सर्वथा अभाव बना हुआ है। मैनेजर पांडेय जैसे अध्येता इस कमजोरी को स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं, 'समाजशास्त्रीय आलोचना सुनिश्चित दृष्टि की जरूरत पर जोर देती है, लेकिन वह दृष्टि की कट्टरता का समर्थन नहीं करती। उसमें अपनी दृष्टि के प्रति सजगता के साथ-साथ दूसरी दृष्टियों को जानने-समझने की तत्परता भी होती है।'[10] जबकि आदिवासी विश्व की परंपरा व उसके प्रयोजनों पर सामाजिक विज्ञान की अनेक शाखाओं में इस पर बहुतेरे विद्वानों और शोधार्थियों ने असंख्य अध्ययन एवं शोध किया है। परंतु जहां तक साहित्य के समाजशास्त्र की दृष्टि से इस पर अध्ययन का प्रश्न है, उसकी शुरुआत तक नहीं हो सकी है। क्योंकि गैर-आदिवासी विश्व के सर्वस्वीकृत साहित्य यानी की शिष्ट साहित्य की स्पष्ट अवधारणा है कि आदिवासियों के पास कोई लिखित साहित्य नहीं है। जब लिखित साहित्य नहीं है फिर साहित्य का इतिहास भी नहीं है। शेष विश्व साहित्य की मान्यता है कि अभी जो भी और जिस तरह का भी साहित्य आदिवासियों के पास है, वह मूलतः 'फोक' है। गंवई और पिछड़े हुए आदिम समुदायों का लोक साहित्य। स्पष्ट है कि पिछड़ी हुई साहित्यिक परंपराओं में जीवन के आधुनिक प्रयोजनों को ढूंढना बेकार है। यानी आधुनिक संदर्भ में जो पिछड़ा है, वह निरर्थक है, इस नयी सदी में नितांत अनुपयोगी है।

आप पाओगे कि आपके विज्ञान का कोई मूल्य नहीं
और सारा अध्ययन एक बांझपन का शिकार है।

(ब्रेख्त, कलेक्टेड पोएम्स, मेथुएन संस्करण, पृ। 450)

सवाल उठता है क्या वाकई में ऐसा है? क्या सचमुच आदिवासी परंपराएं आज की आधुनिक दुनिया में अपनी कोई प्रयोजनमूलकता नहीं रखतीं? आदिम धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज और सांस्कृतिक बौद्धिक परंपराएं पिछड़ी हैं? सहअस्तित्व का जीवनदर्शन व्यक्ति केन्द्रित आधुनिक

है। इस हमले की चपेट में लोग आ ही जा रहे हैं। संसाधनों की लूट ने उन्हें विवश कर दिया है कि वे जिंदा रहने के लिए पलायन को स्वीकार करें। अकाल और दमन ने हिम्मत तोड़ दी है। विस्थापन और पलायन से आदिवासी समाज छिन्न-भिन्न हो गया है। प्रस्तुत खड़िया गीत में एक स्त्री दूसरी स्त्री को ढांढ़स बंधाते हुए कह रही है -

अमाः केन्डोर चोलकी टापू राइज
हरे कोन्सेल हाल जो उम डाङते
चिठी लिखय कुलम/पतर लिखय कुलम
हारे दैया हाल उम डेलता
तुम्हारा मर्द गया अंडमान
हाय रे औरत खबर भी नहीं भेजता
चिट्ठी लिखो भाई/संदेशा भेजो बहिन
हाय रे दैया कोई खबर नहीं आता

पलायन की ऐसी ही विभीषिका को दर्शानेवाला एक गीत का वर्णन देश के पहले आदिवासी उपन्यासकार मेन्नस ओड़ेअ ने अपने बृहत् मुंडारी उपन्यास के एक खण्ड में किया है।

रोग आया है
देश में लोग मर रहे हैं।
सरदार आ रहे जा रहे हैं;
मेरे प्राण चलो बोल रहे हैं।

जाओगे तो जाओगे
भाई वहां अपना कोई नहीं है;
दर्द, बीमारी दुःख फिक्र
गिद्ध, चील, सियार खाएंगे। [12]

ऊपर दिए गए गीतों को विषयवस्तु के आधार पर देखने से मालूम होता है कि अधिकांश गीत औपनिवेशिक अतिक्रमण के दिनों के हैं। जिसमें समुदाय की रक्षा, भावी पीढ़ी के विकास की चिंता, प्राकृतिक संसाधनों की लूट, बाहरी आक्रमण और पलायन की बात है। जबकि औपनिवेशिक दौर से पहले के गीतों में ये विषय बिल्कुल नहीं हैं। आदिवासी गीतों के संकलक

नदी के उस पार जब गिरता है गाछ
तब बहुत दुखी होता है मन
हम जानते हैं यह गाछ
नीलाम हो गया है।

दोहन और लूट सिर्फ प्रकृति तक सीमित नहीं है। गैर-आदिवासी विश्व की खराब नजरें आदिवासी समुदाय के पुरुष और स्त्रियों पर भी है। प्रकृति की तरह ही आदिवासी समुदाय उनके लिए वस्तु अथवा संसाधन ही हैं। गुलामी के लिए, मजदूरी के लिए, दैहिक भूख मिटाने के लिए। 19वीं सदी के अंतिम दौर में जब चाय बागानों के लिए अंग्रेज शासकों को मजदूरों की जरूरत हुई तो उन्होंने लोभ-लालच, छल-बल और अपहरण, सभी तरह के हथकंडे अपनाए। सामंतों और लठैतों को खुली छूट दी गयी। निम्नांकित उरांव आदिवासी गीत में उसी भयावह दौर को याद किया गया है

सब थाना जाना, मगर सिसई थाना मत जाना,
हाय! वहां लड़कियों को भगा ले जाते हैं।

जबकि नीचे उल्लेखित 'हो' गीत में उस दिकू संस्कृति के प्रसार का चित्रण है जिससे आदिवासी विश्व आक्रांत था और बचने के लिए दूरी बनाए रखने की कोशिश कर रहा था। परंतु बाहरी संस्कृति का हमला इतने रूपों में था कि उससे बच पाना मुश्किल था। फिर भी सचेतनता आदिवासी समुदाय के एक बड़े हिस्से को बचाए रख पाने में सफल रही। गीत में युवती एक नौजवान से कहती है, तुम कलकत्ता गए थे और वहां से सुगंधित साबुन लेकर आए हो। तुम सुगंधित साबुन से बाल धोते हो। तुम रांची शहर से लाए कंघी से अपने बाल संवारते हो। तुम जिस साबुन और कंघी का उपयोग कर रहे हो, उससे तुम दिकु की तरह लग रहे हो। इसलिए तुम मुझसे दूर ही रहो।

कालकत्ता कोयते, सोआन साबोन,
रांची कोयते दिरींग नाकी,
दिकु दिसुम सोहानाह, जोका नूठान मेह ।।कों।।
मांया रेदो बांगाली धोती, काटा रेदो सायोब जूता
येना मेनतेह जूड़ीं जोका नूसान मेह ।।कों।।

इस अस्वीकार के बावजूद लोभ-लालच, दमन का हमला बहुत तेज

हैं। डॉ. पद्मजा सेन झारखंड के आदिवासी मिथकों का अध्ययन करते हुए कहती हैं, 'अन्यान्य मानव समूहों के सृष्टि-मिथकों की तरह ये भी विश्व की उत्पत्ति की व्याख्या के प्रारंभिक प्रयास हैं। साथ ही मेरे विचार से प्रारंभिक आदिवासी विश्वतत्त्व एवं एक सुस्पष्ट प्रकृति-दर्शन के बीज भी इन मिथकों में निहित हैं। फलतः ये मिथक आदिवासी जीवनदर्शन के अध्ययन के लिए एक व्यापक आधार भी प्रस्तुत करते हैं। दुर्भाग्य से आदिवासी सृष्टि-मिथकों की समृद्ध परंपरा होते हुए भी अब तक न तो नृत्तत्वशास्त्रियों न ही दार्शनिकों का समुचित ध्यान इस ओर गया है। ... निश्चित तौर पर ये सृष्टि मिथक एक नहीं, कई संदेश वहन करते हैं। ... प्रथमतः दार्शनिक दृष्टि से ये मिथक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये जगत की जटिलताओं की व्याख्या के आदिवासी समाज के प्राथमिक प्रयास हैं। द्वितीयतः इनसे इस समाज की संरचना, रीति-रिवाजों एवं एक बृहत सामाजिक परिप्रेक्ष्य का परिचय मिलता है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ये मिथक आदिवासी संस्कृति की मौलिकता और पहचान के परिचायक हैं'।[15]

परंपरा के प्रयोजन की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण पक्ष भाषा है। चित्र, नृत्य, गीत, संगीत, संकेत, इशारे, कथा, मिथक और ध्वनियां, सभी प्रकारांतर से भाषा के विभिन्न रूप हैं। पर इन सभी का परिष्कृत और सबसे संप्रेषणीय रूप है वह भाषा, जिसे हम बोलते हैं। भाषा का अविष्कार और उसका परिमार्जन एक सतत सामूहिक व सामाजिक प्रक्रिया है। भाषाएं परंपराओं का सबसे प्रामाणिक दस्तावेजीकरण हैं। सहज और बेहद सरल। गैर-आदिवासी विश्व और उसकी शासन व्यवस्था पहला सुनियोजित प्रहार भाषाओं पर ही करती हैं। ताकि समुदाय विशेष की परंपराओं को कुंद और लुप्त किया जा सके। चूंकि ऐतिहासिक चेतना और ज्ञान की परंपरा भाषा के जरिए ही सक्रिय रहती है इसलिए उसके खात्मे के लिए समूची शिक्षा प्रणाली मालिक की भाषा में विकसित की और थोपी जाती है। फिर आजीविका, पद-प्रतिष्ठा नहीं देनेवाली निष्क्रिय एवं अकर्मण्य भाषा के रूप में उसे लगातार टारगेट किया जाता है। अनुपयोगी और अप्रासंगिक बताते हुए उसे मृत भी घोषित कर दिया जाता है। जबकि 'भाषाएं न तो कभी बूढ़ी होती हैं और न मरती हैं। वे अपनी संरचना में किसी तात्विक दोष के कारण 'आधुनिक युग' के लिए अप्रासंगिक भी नहीं होतीं। वे तभी गुम होती हैं जब समाज के

डब्ल्यू जी. आर्चर ने मुण्डा समुदाय के 1641, खड़िया के 1528, हो के 935, उरांव के 2660 और संतालों के 3000 गीतों का संग्रह किया है। करीब दस हजार गीतों के विशाल साहित्य में महज दस फीसदी रचनाओं में ही दुःख और क्षोभ जैसे वर्णन मिलते हैं। नब्बे फीसदी गीतों का विषय प्रेम और प्रकृति है। यही नहीं, 'संताली (समस्त आदिवासी) लोकगीतों में वीर गाथाओं का अभाव है'। संताली भाषा एवं साहित्य के मूर्धन्य विद्वान डोमन साहु 'समीर' इसी के साथ यह भी कहते हैं कि पशु-पक्षी संबंधी कथाओं को छोड़ दिया जाए तो 'सामान्य कथाओं में से अधिकांश प्रेमी-प्रेमिकाओं से संबंध रखती हैं'।[13]

प्रेम और प्रकृति। यही वे दो स्थायी भाव हैं आदिवासी जीवन के जिनपर दो हजार सालों तक निरंतर रचनाएं होती रहीं। असहमति और रचाव-बचाव का जो साहित्य है, वह मात्र हाल के दो-ढाई सौ सालों के दौरान रची गयी हैं। प्रेम और प्रकृति के गीत व कहानियां भी अनुभवजन्य हैं। रीतिकाल और छायावाद की तरह कपोल कल्पित नहीं। अभी तक उपलब्ध दस हजार गीतों में कल्पना की अवास्तविक उड़ान का एक भी गीत नहीं है। यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रेम गीतों में कहीं भी उच्छृंखलता का हल्का पुट नहीं है। यौन-प्रेम की आकांक्षा, सहमति और उन्मुक्तता के वर्णन में 'अराजक यौन-प्रेम' अथवा 'पशुवत यौन-प्रेम' का आभास तक नहीं है। शायद इसी आदिम या प्राचीन यौन-प्रेम की परस्पर रागात्मक प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए मार्क्स ने 'मध्य युग के पहले व्यक्तिगत यौन-प्रेम जैसी कोई चीज थी ही नहीं' कहते हुए यह स्वीकार किया है, 'जाहिर है कि तब भी व्यक्तिगत सौंदर्य, अंतरंग साहचर्य, समान रुचि, आदि से नारी और पुरुष में परस्पर संभोग की इच्छा उत्पन्न होती थी, और उस वक्त भी नर-नारी इस प्रश्न की ओर से बिल्कुल उदासीन नहीं थे कि वे किस व्यक्ति के साथ वह सबसे अंतरंग संबंध स्थापित करते हैं'। इसके आगे वे यह भी कहते हैं, 'परंतु उसमें और हमारे काल के यौन-प्रेम में बहुत अंतर है'।[14] आदिवासी प्रेमगीत निःसंदेह यौन-प्रेम के इस अंतर को पूरे काव्यात्मक सामर्थ्य के साथ चित्रित करते हैं।

सृष्टि विषयक मिथकों में भी आदिवासी यौन-व्यवहार का जो चित्रण हुआ है, वह केवल संतानोत्पत्ति या वंशवृद्धि की कहानियां नहीं कहते। उनमें स्त्री-पुरुष के प्रथम संबंधों की स्थापना के साथ-साथ प्रकृति और समुदाय के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के अस्पष्ट-स्पष्ट चित्र भी दिखाई पड़ते

संदर्भ स्रोतः

1. श्यामा चरण दूबे, परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ। 16-17
2. न्यूगी वा थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, अनु.: आनंदस्वरूप वर्मा, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1999, पृ. 116
3. नौम चॉमस्की, जनमाध्यमों का मायालोक, अनु.: चंद्रभूषण, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1999, पृ. 25
4. श्यामा चरण दूबे, परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 27
5. न्यूगी वा थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, अनु.: आनंदस्वरूप वर्मा, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1999, पृ. 117-118
6. ल्यूसिएं गोल्डमान, आइडियोलॉजी एण्ड राइटिंग, 1967, पृ. 904
7. हेलेना नॉबर्ग-होज़, प्राचीनता का भविष्य, अनुवादकः ज्वाला प्रसाद मिश्रा, पृ. 51
8. श्यामा चरण दूबे, परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 15-16
9. दिनेश्वर प्रसाद, मुण्डा दुरङ, झारखंड एन्साइक्लोपीडिया खंड-4, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 361
10. मैनेजर पांडेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989, पृ. 13
11. न्यूगी वा थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, अनु.: आनंदस्वरूप वर्मा, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1999, पृ. 152
12. मेन्नस ओड़ेअ, चलो चाय-बगान, अनु.: पेत्रुस ओड़ेअ, कैथोलिक प्रेस, रांची, 1997
13. डोमन साहु 'समीर', 'संताली भाषा और साहित्य', पंचदश लोकभाषा-निबंधावली), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1960, पृ. 109
14. मार्क्स एंगेल्स, साहित्य तथा कला, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981, पृ. 246-247
15. डॉ. पद्मजा सेन, झारखंड के आदिवासियों के सृष्टि-मिथक एवं विश्वतत्त्व, झारखंड एन्साइक्लोपीडिया खंड-4, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 555 एवं 564
16. न्यूगी वा थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, अनु.: आनंदस्वरूप वर्मा, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1999, पृ. 7
17. डोमन साहु 'समीर', 'संताली भाषा और साहित्य', पंचदश लोकभाषा-निबंधावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1960, पृ. 105-106

प्रभुत्वकारी वर्ग के पास उनकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती'।[16] जाहिर है, चेतना को परंपरा के विश्वदृष्टिकोण से लैस बनानेवाली भाषा शासक वर्ग के लिए सिर्फ अनुपयोगी ही नहीं खतरनाक भी होती हैं।

आदिवासी भाषाओं का इस समझदारी से समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं किया गया है। जिससे भाषाओं में निहित आदिवासी विश्वदृष्टिकोण से अभी तक लोग अपरिचित हैं और शासक वर्ग द्वारा थोपी गयी भाषा के प्रभाव में अपनी मातृभाषाओं की सुंदरता, समता और सामर्थ्य से दिनोंदिन दूर होते जा रहे हैं। भाषा को सिर्फ बोली और संप्रेषण समझने की शासकीय अवधारणाओं में फंसकर उसकी दार्शनिक भूमिका का अस्वीकार एक आम परिघटना बन चुकी है। जबकि भाषाविद् बताते हैं कि आदिवासी भाषाओं में न कोई स्तरीकरण है और न ही किसी प्रकार का सामाजिक विभेद। उदाहरणस्वरूप, 'ऋण, उधार, सूद, महाजन आदि के लिए संताली में क्रमशः 'रिन', 'धार', 'सूद', 'महाजन' आदि शब्द हैं। स्पष्ट है कि ये शब्द ऋण के हैं। संभव है, संतालों में मूलतः ऋणपान की कोई प्रथा नहीं थी। इसी प्रकार 'भिक्षा' और 'दान', 'धनी' और 'निर्धन', 'मालिक' और 'नौकर' के लिए भी संताली का अपना कोई शब्द नहीं है, जिससे पता चलता है कि इनके (आदिवासी) समाज में समानता का बहुत अधिक भाव रहा है'।[17]

निःसंदेह कहा जा सकता है कि आदिवासी साहित्य की परंपरा किसी भी दृष्टि से शेष विश्व की साहित्यिक परंपराओं से बिल्कुल जुदा है। मूल और पक्का विभाजन तो यही है कि एक का साहित्य स्वतंत्र और नियामक ईकाई है तो दूसरे का स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं। दोनों में किसी स्तर पर और किसी कालखण्ड में कोई साम्यता भी नहीं है। जब साम्यता नहीं है फिर दोनों के उद्देश्य और प्रयोजन एक नहीं हो सकते। गैर-आदिवासी विश्व के शासक वर्ग का साहित्य शासित करने के लिए है तो उसके प्रतिरोध में खड़ा साहित्य भी एक सत्ता की स्थापना के लिए है। जबकि आदिवासी विश्व का साहित्य सामूहिक अभिव्यक्ति और कला रूपों की एक अविभाज्य और संयुक्त ईकाई के बतौर सत्ता के किसी भी संरचना और अवधारणाओं की पैरवी नहीं करता। वह किसी व्यक्ति एवं सत्ता की बजाय समूची समष्टि के प्रति अपनी जबाबदेही अभिव्यक्त करता है।

पुरखौती साहित्य के समृद्ध एवं विशाल धरोहरों को नई पीढ़ी तक पहुंचाने की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी को अभी भी उन्होंने ही संभाल रखा है। ऐसे में झारखंडी राजनीति एवं साहित्य की दुनिया में उनका नहीं होना राष्ट्रीयता आंदोलन के शोधार्थियों और इतिहासकारों की नीयत पर सवाल खड़े करता है।

झारखंड की देशज दुनिया के साहित्य में महिला साहित्यकारों की वास्तविक उपस्थिति के इतिहास की खोज होना अभी शेष है। पर इतना तय है कि पुरखौती गीतों जितनी ही पुरानी उनकी उपस्थिति है।

फिलहाल उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर झारखंड के विभिन्न भाषायी साहित्य में महिला रचनाकारों की जो उपस्थिति है, वह संतोषजनक भले न हो, पर एक सुदृढ़ शुरुआत का संकेत जरूर है। आज देशज झारखंडी दुनिया की महिलाएं लगभग सभी भाषाओं में तेजी से उभर रही हैं और अपनी रचनाओं से देशज साहित्य को समृद्ध कर रही हैं।

झारखंड की आदिवासी एवं देशज महिलाओं के लेखन को या फिर रचना कारों को हम मुख्यतः तीन वर्गों में रख सकते हैं। पहला, जो नियमित रूप से सृजनात्मक साहित्य लिख रही हैं। कविता, कहानी, उपन्यास आदि साहित्यिक विधाओं में। अर्थात् जिनके लेखन में निरंतरता है। अंतराल का बड़ा 'गैप' नहीं है। लिखना उनकी मूल प्रवृत्ति में शामिल है।

दूसरी वे हैं, जो पत्रकारिता अथवा प्रयोजनमूलक लेखन कर रही हैं। वह भी नियमित रूप से। ऐसी लेखिकाएं सृजनात्मक साहित्य भी लिखती हैं पर उनका लेखन मूलतः प्रयोजनमूलक ज्यादा होता है। झारखंड के विभिन्न सवालों पर परिस्थितियां या अवसर विशेष पर तात्कालिक या त्वरित रचनाकर्म ही ऐसी लेखिकाओं का मूल स्वभाव है।

तीसरे वर्ग में हम उन लेखिकाओं को रख सकते हैं जो अकादमिक जरूरतों या शिक्षण कार्यों की पूर्ति के लिए लिखती हैं। जैसे, जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर शिक्षण के डिजरटेशन अथवा पीएच.डी. उपाधियों के लिए होनेवाला अध्ययन एवं शोधलेखन।

साहित्यिक और प्रयोजनमूलक लेखन को भी दो उपवर्गों में सजाया जा सकता है। एक, जिनके लेखन में निरंतरता है और दूसरी वे जिनका लेखन कभी-कभार होता है। जैसे, डॉ. शांति खलखो लगातार लिख रही हैं तो सलोमी एक्का कभी-कभार लिखती है।

देशज साहित्य में देशज महिलाएँ

झारखंड की देशज दुनिया की महिलाओं का संघर्ष उतना ही पुराना है, जितना कि झारखंड आंदोलन। राष्ट्रीयता की पहचान की लड़ाई के हर अग्रिम मोर्चे पर महिलाओं की मजबूत भागीदारी रही है। सिनगी दई से भी पहले शुरू हुई महिला संघर्ष की इस जुझारू परंपरा पर विशेष शोध एवं अध्ययन की जरूरत है, ताकि झारखंड आंदोलन में महिलाओं की गौरवपूर्ण भूमिका और उनका इतिहास सामने आ सके।

अपनी मजबूत उपस्थिति के बावजूद देशज समाज, राजनीति और इतिहास में झारखंडी महिलाओं की अनुपस्थिति अस्वाभाविक लगती है। इस दृष्टि से यहां का देशज साहित्य भी इस अस्वाभाविकता से अछूता नहीं है। झारखंडी साहित्य में भी समाज और राजनीति की ही तरह महिलाओं की भागीदारी व योगदान की कोई चर्चा नहीं है और यह महज संयोग नहीं है कि राजनीति और संस्कृति दोनों ही मोर्चों के इतिहास से महिलाएं बाहर हैं। निश्चित रूप से इसके अपने सामाजिक-राजनीतिक निहितार्थ हैं, जिन्हें गंभीरता से समझने की जरूरत है।

साहित्य में भी पुरुषों का वर्चस्व रहा है और महिला साहित्यकारों का योगदान सही स्थान नहीं पा सका है। उनके विचार, उनकी अभिव्यक्ति को सामाजिक सामूहिकता और समानता के बावजूद दरकिनार होना पड़ा है। क्योंकि ऐसा तो हो नहीं सकता कि जिस महिला वर्ग ने युद्ध और आंदोलनों में कमान संभाली हो, सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक विकास में मददगार की भूमिका निभायी हो, उसने साहित्य में कोई योगदान नहीं किया हो।

यह सर्वविदित तथ्य है कि महिलाएं पुरखौती (लोक) परंपराओं के जीवंत और गतिशील संस्थान हैं। पुरखौतीगीतों, पुरखौतीकथाओं तथा

प. सिंहभूम, चाईबासा के खैरपाल गाँव में हुआ। दिवंगत माँ हर्षमती सिंकू और पिता जगमोहन सिंकू के यहाँ। पहली-दूसरी तक की शिक्षा गाँव में ही हुई जबकि चौथी से मैट्रिक तक की शिक्षा स्काउट हिंदी गर्ल्स स्कूल, चाईबासा से पूरी की। 1980 में मैट्रिक, 1982 में आई.ए., 1985 में बी.ए. हिन्दी ऑनर्स और महिला कॉलेज, चाईबासा से 1988 में एम.ए. किया। 2011 में आपने 'हो जनजाति में बा गीतः एक सांस्कृतिक अध्ययन' विषय पर पीएच.डी की उपाधि प्राप्त की। 2000 में आपका विवाह डुम्बीसाई, चाईबासा सदर निवासी एडवोकेट लक्ष्मण देवगम से हुआ। 1996 तक आप केयर इंडिया के साथ कार्यरत रहीं और इसके बाद से जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची में अवैतनिक रूप से 'हो' भाषा-साहित्य के अध्यापन का कार्य कर रही हैं।

आप 'हो' भाषा कर जानीमानी विदूषी हैं और अभी तक आपकी अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। इनमें 'हो परिचय' (2000), 'पुटि रेयाअ सेतेंग डबुरा', 'हो हिंदी शब्दकोश' (2007) और 'सिंहभूम के शहीद लड़ाका' (2010) प्रमुख है। इसके अतिरिक्त शीघ्र प्रकाश्य पुस्तकें हैं - हो हिंदी व्याकरण (बच्चों के लिए) 'ओंडों निबंधावली', 'हो सीखे', 'हो दुरंग हिसिर' (हो गीत संकलन) हिंदी अनुवाद के साथ) एवं 'मरांग गोमके जयपाल सिंह' (हो अनुवाद)।

लेखन के अलावा नृत्य, गीत और संगीत में भी आपकी गहरी रुचि हैं। स्वीटजरलैंड, नीदरलैंड में आयोजित सेमीनार में आपने भागीदारी की है तथा 21 दिन तक लर्निंग इंन्टीट्यूट नरवाल द नीदरलैंड में हो भासा की प्रतिनिधि के तौर पर शामिल हुई थीं। जिसमें 13 देश के आदिवासियों ने भाग लिया था। यहीं आपको 'इसपरान्तु' भाषा सीखने का अवसर मिला जो विश्व के सभी आदिवासियों से संवाद करने के लिए तैयार किया गया है।

खड़िया समुदाय

डॉ. रोज केरकेट्टा, इग्नासिया टोप्पो, मेरी स्कोलस्टिका सोरेंग, सरोज केरकेट्टा, ग्लोरिया सोरेंग, पुष्पा टेटे और वंदना टेटे का लेखन खड़िया भाषा-साहित्य के क्षेत्र में निरंतरता लिए हुए है जबकि करोलिना मिंज, वंदना केरकेट्टा, बिबियाना डुंगडुंग, इंदू रानी किड़ो और तारकेलेंग कुल्लु में

हालांकि यहां प्रस्तावित वर्गों के अनुसार लेखिकाओं को चिन्हित करना मुश्किल है। फिर भी इसके बिना झारखंडी आदिवासी एवं देशज महिला रचनाकर्म की वास्तविक स्थिति का ठीक-ठीक पता लगा पाना आसान नहीं है। क्योंकि अक्सर लोग संख्या बल बढ़ाने अथवा नाम गिनाने के चक्कर में उन्हें भी साहित्यकार बना देते हैं, जो मूलतः लेखिका तो हैं, पर सृजनात्मक साहित्य नहीं लिखतीं, या फिर वे जो एकाध रचनाओं में ही दिखकर सदा-सदा के लिए लेखनक्षेत्र से बाहर जा चुकी हैं।

अब, हम इन्हीं वर्गों के अनुसार झारखण्ड की आदिवासी एवं देशज महिला रचनाकारों का उल्लेख करेंगे तथा निरंतरता बनाए रखनेवाली एवं कुछ वैसी महत्वपूर्ण लेखिकाओं की भी चर्चा करेंगे, जो नियमित नहीं हैं परंतु उनका रचनाकर्म ध्यान खींचता है।

असुर आदिम आदिवासी समुदाय

सुषमा असुर : सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से असुर आदिम समुदाय झारखंड के दूसरे आदिवासी समुदायों से 'लेखन संस्कृति' में अभी अविकसित अवस्था में हैं। सखुआपानी, नेतरहाट (बिशुनपुर), गुमला की सुषमा असुर पहली असुर महिला लेखिका है, जिसने मात्र इंटर पास होने पर भी तेजी से आदिवासी साहित्य में जगह बना सकी है। उसकी असुर रचनाएं 'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा', 'फॉरवर्ड प्रेस' और इंटरनेट पत्रिकाओं में निरंतर छप रही है। सुषमा असुर के पिता दिवंगत खंभीला असुर अपने समुदाय के अगुआ लोगों में से थे।

सुषमा को ही असुर समुदाय की पहली साहित्यिक पुस्तक लिखने व संपादित करने का श्रेय है। 2010 में प्रकाशित 'असुर सिरिंग' लिखित असुर साहित्य की प्रथम पुस्तक है।

हो समुदाय

दमयंती सिंकू और सरस्वती गगराई हो सृजनात्मक साहित्य के लिए जानी जाती हैं जबकि शांति सावैंया प्रयोजनमूलक लेखन करती हैं। वहीं इंदिरा बिरुआ और गीता सुंडी का मूलतः लेखन शैक्षणिक प्रवृत्ति का है।

5. दमयंती सिंकू : 1964 की जुलाई में रथ के दिन आपका जन्म

1986 में हुआ। आपकी दो बेटियां और दो बेटे हैं। पति पीटर टेटे केन्द्रिय विद्यालय, पटना में उप-प्राचार्य हैं जबकि आप 2002 से जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची में खड़िया भाषा-साहित्य की प्राध्यापिका हैं।

खड़िया साहित्य समिति की सदस्या मेरी स्कोलास्टिका सोरेंग विभिन्न सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थाओं के साथ जुड़कर खड़िया भाषा, साहित्य के विकास कार्य में लगी हुई हैं। 2010 में 'बु'धि या' सिमकोम' प्रकाशित पुस्तक है जबकि अप्रकाशित पुस्तकें हैं - 'खड़िया बाइर रो तोन्मे आलोङ', 'खड़िया मुहाबरा रो बुझवेइल' एवं 'खड़िया लिखाई रोमन अक्षरों से भी क्यों'। इसके साथ ही आपने खड़िया शब्दकोष एवं भाषा-साहित्य संबंधी अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों के लेखन-प्रकाशन में सहयोगी भूमिका निभायी है।

डॉ. इग्नासिया टोप्पो (कुल्लू) : आपके बारे में हिंदी एवं आदिवासी भाषा-साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. दिनेश्वर प्रसाद ने लिखा है, 'डॉ. इग्नासिया टोप्पो झारखंड की नयी पीढ़ी की प्रबुद्ध और विदूषी महिलाओं में हैं। ... आपकी अभिरुचि और वैदुष्य का क्षेत्र केवल जनजातीय संस्कृति या इतिहास नहीं है, बल्कि झारखंड की खड़िया जनजाति के लोक साहित्य और मौखिक साहित्य में भी गहरी रुचि हैं'।

माता-पिता बेर्नादेत और फिलिप कुल्लू की संतान डॉ. टोप्पो सिमडेगा की रहनेवाली हैं और वर्तमान में डोरंडा महाविद्यालय, राँची में प्राध्यापिका हैं। अब तक आपकी कई किताबें छप चुकी हैं। जिनमें 'उलगुलान के महानायक बिरसा मुण्डा' और खड़िया लोकगीतों की पहचान' प्रमुख है।

ग्लोरिया सोरेंग : खड़िया समुदाय में 2/11/42 को जन्मी और साम टोली, सिमडेगा निवासी ग्लोरिया सोरेंग की पहली कविता 'आदिवासी' पत्रिका में छपी थी - तपकर सुम्बोः। आपने 1960 में उर्सुलाइन कान्वेंट, सिमडेगा से मैट्रिक, 1961 में प्री यूनिवर्सिटी और 1971 में बीए किया है। पेशे से आप अध्यापिका रहीं और रायडीह हाई स्कूल, गुमला से सेवानिवृत हुईं। आप अपनी मातृभाषा 'खड़िया' में कविता और कहानियां लिखती हैं। जिनका प्रकाशन खड़िया मासिक पत्रिका 'सोरीनानिङ' और 'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' में हुई हैं। अभी आप खड़िया पुरखौती (लोक) कथाओं के

निरंतरता नहीं है। पुष्पा टेटे मूलतः पत्रकारीय रचनाकर्म कर रही है तो शेष का लेखन शैक्षणिक रुझान वाला है।

रोज केरकेट्टा : झारखण्डी लेखन में जिन रचनाकारों को सर्वाधिक लोकप्रियता हासिल हुई है, उनमें एक नाम है रोज केरकेट्टा। मातृभाषा खड़िया के साथ-साथ हिन्दी भाषा-साहित्य को समृद्ध बनाने में रोज केरकेट्टा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। झारखण्ड की आदि जिजीविषा और समाज के महत्वपूर्ण सवालों को सृजनशील अभिव्यक्ति देने के साथ ही जनांदोलनों को बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करने तथा संघर्ष की हर राह में आप अग्रिम पंक्ति में रही हैं।

आपकी प्रमुख प्रकाशित पुस्तकें हैं- खड़िया लोक कथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन (शोध ग्रंथ), प्रेमचंदाअ लुङकोय (प्रेमचंद की कहानियों का खड़िया अनुवाद), सिंकोय सुलोओ, लोदरो सोमधि (खड़िया कहानी संग्रह), हेपड़ अवकडिञ बेर (खड़िया कविता एवं लोक कथा संग्रह), खड़िया निबंध संग्रह, खड़िया गद्य-पद्य संग्रह, जुझइर डांड़ (नाटक संग्रह), पगहा जोरी-जोरी रे घाटो (हिंदी कहानी संग्रह) एवं अबसिब मुरडअ (खड़िया कविताएं)। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, समाचार पत्रों, दूरदर्शन तथा आकाशवाणी से सभी सृजनात्मक विधाओं में हिन्दी एवं खड़िया भाषाओं में सैंकड़ों रचनाएँ प्रकाशित एवं प्रसारित।

जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची से सेवानिवृति के पश्चात् स्वतंत्र लेखन एवं विभिन्न नागरिक संगठनों व जनांदोलनों में सक्रिय भागीदारी।

मेरी स्कोलास्टिका सोरेंग : आप दिवंगत माता-पिता अग्नेस सोरेंग एवं जोहन सोरेंग के यहां 14 जून 1960 को पैदा हुई। कोलेबिरा (सिमडेगा) महुवाटोली (सेमरटोली) स्थित गाँव में। प्राइमरी से मैट्रिक तक की आपकी शिक्षा कोलेबिरा और सिमडेगा के स्कूलों में हुई। 10वीं-11वीं 1977 में संत जेवियर्स उच्च विद्यालय बरवाडीह, कोलेबीरा से, आई.ए. निर्मला कॉलेज, राँची से 1979 में, बी.ए. (इतिहास प्रतिष्ठा) राँची महिला महाविद्यालय, राँची से 1981 में और खड़िया भाषा-साहित्य में एम.ए. जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची से 1984 में किया। आपका विवाह कुसुमडिपा, खुटीयारी, लचड़ागढ़, सिमडेगा निवासी पीटर टेटे से 29 दिसम्बर

नुक्कड़ नाटकों में अभिनय, विभिन्न नाट्य संस्थाओं में सक्रिय भागीदारी तथा कई नाट्य कार्यशालाओं का निर्देशन-संचालन किया है। 2003 में आदिवासी व देशज लेखकों, भाषाविद्, संस्कृतिकर्मी, साहित्यकार और बुद्धिजीवियों के संगठन 'झारखण्डी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' की स्थापना की जिसके नेतृत्व में झारखण्ड राज्य में 9 आदिवासी एवं क्षेत्रीय भाषाओं को द्वितीय राजभाषा का दर्जा प्राप्त हुआ।

आपकी प्रकाशित पुस्तकें हैं - 'किसका राज है' (झारखंडी सवालों पर निबंध संग्रह), 'झारखंड एक अंतहीन समरगाथा' (सहलेखन), 'पुरखा लड़ाके' (संपादित) एवं 'असुर सिरिंग' (सुषमा असुर के साथ सहसंपादन)। 'आदिवासी साहित्यः परंपरा और प्रयोजन' (आलोचना, 2013) नवीनतम प्रकाशित पुस्तक है।

कुड़ुख समुदाय

कुड़ुख भाषा-साहित्य के सृजनात्मक विकास में ग्रेस कुजूर, शांति खलखो, फ्रांसिस्का कुजर, रोजलिन लकड़ा, एलिस एक्का, मनोहारी तिर्की, ज्योति लकड़ा और सुषमा फेरदिना टोप्पो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जबकि सुषमा कुजूर, बसंती कुजूर, चौठी उरांव, महामनी, अकय झरिया, मनोरमा एक्का, नुपुर अन्विता मिंज प्रयोजनमूलक लेखन के क्षेत्र में ही सबसे ज्यादा योगदान कर रही हैं। बिल्कुल नये रचनाकारों में जसिंता केरकेट्टा पत्रकारिता करती हैं पर कविता और कहानी भी लिख रही हैं। सोनी कच्छप भी पत्रकारिता से ही जुड़ी हैं।

एलिस एक्का की कहानियां हिंदी में 'आदिवासी' पत्रिका के कई अंकों में छपी है और कहा जा सकता है कि वे कुड़ुख आदिवासी महिला लेखकों में शायद पहली रचनाकार हैं जिन्होंने गद्य विधा में काफी लिखा है।

फ्रांसिस्का कुजूर : आप मूलतः पुग्गु खोपाटोली, गुमला की रहनेवाली हैं और आपने राँची विश्वविद्यालय, राँची से इतिहास सहित पीएच.डी एवं एल.एल.बी किया है। इतिहास की प्राध्यापिका होने के बावजूद आपकी रुचि साहित्य में है। विशेषकर अपनी मातृभाषा कुड़ुख भाषा-साहित्य में। हिन्दी, कुड़ुख एवं नागपुरी में कहानी, कविता, संस्मरण-लेख आदि आप लगातार लिखती रही हैं। आपकी साहित्यिक प्रतिभा कुड़ुख कविता और कथा लेखन

संग्रह में जुटी हुई हैं।

सुश्री सरोज केरकेट्टा - विद्यार्थी जीवन में ही पिता प्यारा केरकेट्टा की प्रेरणा से आप लेखन में आई। पहली कविता आपने 8वीं कक्षा में लिखी। हिंदी में। कॉलेज पत्रिका में भी आपकी रचनाएं छपी। सिमडेगा कॉलेज से 1972 में बीए और फिर टीचर ट्रेनिंग किया। लेकिन आपने सरकारी नौकरी नहीं की और समाजसेवा एवं रचनाकर्म को जीवन का ध्येय बनाया। आपकी रचनाएं हिंदी और खड़िया में 'आदिवासी', 'सोरीनानिङ' और 'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' पत्रिकाओं में निरंतर छपती रहती हैं। इसके अलावा आकाशवाणी राँची से भी आपकी कविताओं का प्रसारण हुआ है। वर्त्तमान में आप अपने पिता द्वारा सामटोली, सिमडेगा में शुरू किये गए बालिका छात्रावास की अधीक्षक हैं और खड़िया कविता संग्रह पर काम कर रही हैं।

वंदना टेटे : 13 सितम्बर 1969 को जन्मी वंदना टेटे ने समाज कार्य (महिला एवं बाल विकास) में राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर (राजस्थान) से स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की है। साहित्यिक-सांस्कृतिक और सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश माँ रोज केरकेट्टा एवं नाना दिवंगत प्यारा केरकेट्टा से विरासत में मिली है। स्कूल-कॉलेज के दिनों में ही आपने कविता एवं झारखंड के सवालों पर लिखना शुरू कर दिया था। हिन्दी एवं खड़िया में लेख, कविताएं और कहानियां स्थानीय एवं राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं तथा आकाशवाणी रांची एवं उदयपुर से लोकगीत, वार्ता व साहित्यिक रचनाओं का प्रसारण हुआ है। झारखण्ड आंदोलन की राजनीतिक पत्रिका 'झारखण्ड खबर' की आप उप-संपादक रही हैं और राजस्थान में रहते हुए सामाजिक विमर्श की पत्रिका 'समकालीन ताना-बाना' एवं बाल पत्रिका 'पतंग' का प्रकाशन-संपादन कर चुकी हैं। वर्तमान में आप झारखण्ड की पहली बहुभाषायी पत्रिका 'झारखण्डी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' (प्रकाशन शुरुआत वर्ष 2004), खड़िया मासिक पत्रिका 'सोरिनानिङ' (प्रकाशन शुरुआत वर्ष 2005), नागपुरी मासिक पत्रिका 'जोहार सहिया' (प्रकाशन शुरुआत वर्ष 2006) और कला एवं रंगमंच की त्रैमासिकी 'रंगवार्ता' (प्रकाशन शुरुआत वर्ष अगस्त, 2011) का संपादन-प्रकाशन कर रही हैं।

शोषित एवं वंचित समुदाय, विशेषकर आदिवासी, महिला, शिक्षा, साक्षरता, स्वास्थ्य और बच्चों के मुद्दों पर पिछले 25 वर्षों से आप सक्रिय हैं।

उराँव और दिवंगत माँ नदिया उराँव के घर 6/6/1962 को जन्मी चौठी उरांव एक भाई और 3 बहनों में सबसे छोटी हैं। आपकी प्राइमरी शिक्षा घाघरा पाहन टोली और पूसो प्राथमिक विद्यालय, सिसई से हुई जबकि मैट्रिक माघी गर्ल्स हाई स्कूल से 1978 में। स्नातक की शिक्षा बी.एन जालान कॉलेज, सिसई से 1981 में एवं एम.ए. जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय से कुड़ुख भाषा-साहित्य में 1986 में किया। 1980 से कुछ समय तक सिनगी जन कल्याण समिति का संचालन करते हुए आप सामाजिक कार्य से भी जुड़ी रहीं।

1991 से आप संजय गांधी मेमेरियल कॉलेज में अध्यापन कार्य कर रही हैं। आप कुड़ुख भाषा में साहित्य रचनाएं करती हैं और इन दिनों कुड़ुख गीतों में रस एवं कुड़ुख रीति रिवाजों पर काम कर रही हैं। आपके जीवनसाथी महाबीर उरांव भी लाल मोहन नाथ शाहदेव मेमोरियल कॉलेज, इटकी (राँची) में व्याख्याता हैं। जिनके साथ सहलिखित पुस्तक 'कुँड़ुख़ कत्थअइन अरा कत्थटूड़' (2005) उल्लेखनीय है।

मुण्डारी समुदाय

मुण्डारी भाषा में प्यारी टूटी, नलिनी मुण्डा, अमिता मुण्डा, दियानी हंस, रोशा टोपनो, सिनी मुण्डा, सेलेस्टिना कंडिर, रेखा डाँग और हेसल सारू कहानी-कविताएं लिख रही हैं। प्यारी टूटी की अधिकांश रचनाएं 'आदिवासी' पत्रिका में छपी हैं परंतु उनके किसी स्वतंत्र संग्रह की जानकारी उपलब्ध नहीं है।

अमिता मुण्डा : मुण्डारी लेखन में अमिता मुण्डा एक महत्वपूर्ण नाम है। 26 अगस्त 1955 को बुड़ाडीह, मरंगहादा, खूँटी में आपका जन्म हुआ। आप राँची महिला महाविद्यालय, राँची में व्याख्याता हैं और मुण्डारी-भाषा साहित्य के विकास में रचनात्मक स्तर पर लगातार सक्रिय भी। मुण्डारी भाषा की समृद्धि हेतु शब्दकोश आदि जैसे महत्वपूर्ण परियोजनाओं पर आपने कार्य किया है। गीत, कथा, ललित निबंध, वार्त्ता आदि आपकी रचनाएं अनेक प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं एवं संग्रहों में प्रकाशित तथा आकाशवाणी व दूरदर्शन से लगातार प्रसारण होती रही हैं।

दिवंगत हरि सिंह मानकी आपके पिता का नाम है जबकि देश के

के क्षेत्र में एक नया प्रतिमान है।

आपकी प्रकाशित कृतियां हैं - 'राजा अर्जुन सिंह ऑफ पोराहाट' (इतिहास), 'कुड़ुख की अनुगूंज', 'बरचा ओन्टा रम्फ', 'प्रभु ने मुझे गौरवान्वित किया', 'रोहतासगढ़', 'अंडमान निकोबार' (यात्रा संस्मरण), झारखंड ओन्द नजाइर', 'मूसल' (हिंदी कथा संग्रह, 2011) और 'उढ़ियारा पिंजड़ा ता मयना' (ख़ीरी झुम्पा, 2011)। आने वाली कृति 'अपनों की तलाश' प्रेस में है।

साहित्य संगम, दवले साहित्य सम्मान एवं कथा सम्मान से सम्मानित डॉ. फ्रांसिस्का कुजूर वर्तमान में विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग के इतिहास विभाग में व्याख्याता हैं।

डॉ. शांति खलखो : आपके माता-पिता दिवंगत लक्खी उरांव एवं कइला उराँव लोहरदगा के हनहट गांव के रहनेवाले थे। आपकी जन्मतिथि 11 जनवरी 1969 है। अपनी प्राथमिक शिक्षा आपने राजकीय प्राथमिक विद्यालय बजरा, हेहल से 1973 में, मैट्रिक गवर्मेंट गर्ल्स हाई स्कूल से 1980 में और बी.कॉम मारवाड़ी कॉलेज, राँची से 1985 में पूरा किया। जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय से 1993 में कुड़ुख भाषा-साहित्य में एम.ए. किया और 'उरांव जनजातियों में सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा' पर पीएच.डी. भी वहीं से। मुरलीधर खलखो से 1981 में विवाह हुआ। आपकी दो दो बेटियां और एक बेटा है।

लेखन की ओर आपका रुझान 1990 में हुआ जब आप पीजी के तहत डिजरटेशन लिख रही थीं। आपकी पहली रचना 'संगम' पत्रिका में प्रकाशित हुई। आप उन आदिवासी महिला रचनाकारों में से हैं जो निरंतर और सक्रिय लेखन में जुटी हैं। हिंदी एवं कुड़ुख में आपकी रचनाएं राज्य एवं देश के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती हैं तथा आकाशवाणी से भी प्रसारण होता है। अभी तक आपकी चार किताबें प्रकाशित हैं - 1. पुना डहरे (2008), 2. उराँव संस्कृति में परिवर्त्तन की दिशा में (2009) 3. कुड़ुख तोड़न अख़ड़ा (2010) और 4. कुड़ुख़ सिखाना डण्डी (2011)। कुड़ुख भाषा-साहित्य के विकास में आप प्रतिबद्धता के साथ सृजनरत हैं और वर्त्तमान में कुड़ुख कविता संग्रह, बच्चों के लिए व्याकरण आदि पर कार्य कर रही हैं। सक्रिय राजनीति में भी आपकी रुचि है।

चौठी उरांव : गांव डाड़ीकोटा, सिसई, गुमला में पिता दिवंगत चरवा

श्यामा चापामणि, कन्हैया बाबी का नाम प्रमुख है। इस कड़ी को आधुनिक समय में और आगे बढ़ाया है डॉ. कुमारी बासंती, डॉ. मंजू ज्योत्सना, शकुंतला मिश्रा, डॉ. सविता केशरी, डॉ. गीता सिंह, गीता वर्मा, शशि, जानकी, यशोदा, रूपा, विरसमणि, ललिता आदि रचनाकारों ने। नये लेखिकाओं में सरिता सिंह बड़ाइक, सुनीता गुप्ता, अर्चना कुमारी, सविता सिंह मुण्डा और जयन्ती कुमारी की सक्रियता बढ़ रही है।

डॉ. कुमारी बासंती : नागपुरी भाषा-साहित्य के शीर्ष रचनाकारों में आप सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। झारखंड-ओड़िसा की सीमा पर शंख नदी के किनारे बसे पोढ़ा टोली (सिमडेगा) में कृपाल सेनापति और लक्ष्मी देवी के घर में आपका जन्म 13 मार्च 1949 को हुआ। आपने प्रारंभिक शिक्षा उर्सुलाइन कोन्वेंट रेंगारी और मैट्रिक की परीक्षा उर्सुलाइन कोन्वेंट, सामटोली (सिमडेगा) से पूरी की। सिमडेगा कॉलेज से आपने बी.ए. आनर्स (हिंदी) और राँची विश्वविद्यालय, राँची से हिंदी में एम.ए किया। 1987 में आपने 'नागपुरी गीतों की छंद रचना' विषय पर पीएचडी और इसके बाद डी लिट की भी उपाधि प्राप्त की। पेशे से आप नागपुरी की प्रध्यापिका रहीं और जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची कॉलेज की संस्थापिका अध्यक्ष बनी। इसके बाद आप जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची में आ गयीं और वहीं से विभागाध्यक्ष पद से सेवानिवृत हुईं।

हालांकि नागपुरी गीतों पर आपने शोध किया पर नागपुरी कथा लेखन को एक नया शिल्प देने में आपकी रचनात्मक भूमिका उल्लेखनीय है। साहित्य की सभी विधाओं में आपकी रचनाएं हैं। हिंदी एवं नागपुरी दोनों ही भाषाओं में। आपकी प्रकाशित पुस्तकें हैं - 'क्रिसमस कर सांझ' (नागपुरी कथा संग्रह), 'नागपुरी गीतों की छंद रचना' (शोध), 'नागपुरी कवि एवं काव्य की कृतियां' आदि। पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएं निरंतर छपती हैं और दूरदर्शन एवं आकाशवाणी से भी प्रसारण होता रहता है।

सविता केशरी : माँ शांति केशरी और पिता डॉ. वीपी केशरी के यहां आपका जन्म एक फरवरी 1960 को पिठोरिया, राँची में हुआ। प्रारंभिक से लेकर उच्च शिक्षा आपने डाल्टनगंज में पायी जहां आपके पिता कार्यरत थे। 1982 में बीए हिंदी प्रतिष्ठा जोधसिंह नामधारी महिला कॉलेज, डाल्टनगंज से और फिर नागपुरी भाषा-साहित्य में जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची

अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त बुद्धिजीवी, सांस्कृतिक अगुआ और दिवंगत पद्मश्री रामदयाल मुण्डा आपके पति रहे हैं।

संताली समुदाय

संताली भाषा में चैवत दई, जीरा दई, शीला मार्डी, परतो मार्डी, प्रीति मुर्मू एलिजाबेथ टुडू, दमयंती हांसदा, विभा हांसदा, निर्मला पुतुल, यशोदा टुडु, मिथिला हेम्ब्रम एवं बिटिया मुर्मू साहित्य की सभी विधाओं में निरंतर लिख रही हैं। छप रही हैं।

निर्मला पुतुल : 06 मार्च 1972 को दुधानी कुरूवा, दुमका जिला में पिता दिवंगत सिरील मुर्मू और माता कान्दनी हाँसदा के यहां आपका जन्म हुआ। प्रारंभिक शिक्षा दुमका में हुई और राजनीति शास्त्री प्रतिष्ठा में आपने स्नातक किया। आजीविका के लिए नर्सिंग में डिप्लोमा भी किया परंतु सामाजिक कार्यों और साहित्य लेखन में स्वयं को समर्पित किया।

आप विगत 15 वर्षों से भी अधिक समय से शिक्षा, सामाजिक विकास, मानवाधिकार और आदिवासी महिलाओं के समग्र उत्थान के लिए व्यक्तिगत, सामूहिक एवं संस्थागत स्तर पर सतत सक्रिय हैं। अनेक राज्य स्तरीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ जुड़ाव रखती हैं। आदिवासी, महिला, शिक्षा और साहित्यिक विषयों पर आयोजित सम्मेलनों, आयोजनों, कार्यशालाओं एवं कार्यक्रमों में भागीदारी निभाती रही हैं।

हिंदी साहित्य की मुख्यधारा में आप सर्वाधिक चर्चित कवयित्री हैं और कई पुरस्कारों व सम्मानों से विभूषित हो चुकी हैं। आपकी प्रकाशित कृतियां हैं - 'अपने घर की तलाश में' (2004), 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' (2005), 'बेघर सपने' (2009) और 'ओनोंड़हें'।

देशज (सदानी) समुदाय

झारखंडी भाषा साहित्य में सदानी वर्ग के कुरमाली, खोरठा, पंचपरगनिया, नागपुरी भाषा के महिला साहित्यकारों के योगदान का मूल्यांकन होना भी शेष है। डॉ. वीपी केशरी के अनुसार इस वर्ग में 600 नए-पुराने महिला रचनाकार हैं जिन्होंने सदानी साहित्य को समृद्ध किया है। इनमें मूंगा, नीलमणि, लछण हरपतिया, लछमीन कुँवर, बंधनी, शोभा गौरा, जुगल, जितन, मणि, तारामणि,

पुरखौती और शिष्ट साहित्य की आदिवासी दुनिया

झारखंड की आदिवासी भाषाएं अपने अस्तित्व के लिए जूझ रही हैं। भारत के राजनीतिक पटल पर जिस आंदोलन को 'झारखंड' आंदोलन के नाम से चिन्हित किया जाता है और जिसकी शुरुआत 1767 के पहाड़िया विद्रोह से होती है, के मूल में मुख्य रूप से भाषायी और सांस्कृतिक अस्मिता की ही छटपटाहट रही है। औपनिवेशिक काल से लेकर आज तक के स्वतंत्र भारत में झारखंडी जनगण अपनी राष्ट्रीयता एवं पहचान के लिए अंतहीन संघर्ष में हैं। बाहरी दबावों और भीतरघात से जूझते आदिवासी समाज का भाषायी गणतंत्र अलग झारखंड में भी मुक्ति के पथ पर निरंतर अग्रसर है। मुण्डा, खड़िया, हो, कुड़ुख और संताली के साथ-साथ बिरहोरी, असुरी, मालतो जैसी अन्य आदिम भाषाएं अपनी उत्कट जिजीविषा के साथ लड़ते-भिड़ते और लहूलुहान होते हुए पुरखौती (लोक) से शिष्ट साहित्य के संसार में साहस के साथ प्रवेश कर चुकी हैं। बोली से भाषा की इस विकासयात्रा में अंग्रेज मिशनरियों और खोजी भाषाविदों का योगदान उल्लेखनीय है, चाहे इसके पीछे उनकी जो भी मंशा रही हो। लेकिन आज झारखंड की आदिवासी भाषाओं और उसमें रचित विपुल साहित्य का जो विविध व बहुरंगी समृद्ध संसार हमारे सामने है, निश्चय ही उसे विभिन्न समुदायों से आने वाले लेखकों ने सृजित किया है। ये आदिवासी रचनाकार अपने-अपने समुदाय के सुख-दुःख, संघर्ष और स्वप्न की आदिम अभिव्यक्ति के मुखर स्वर हैं, जिनकी विरासत अलिखित है और जिनके लिए लेखन एक नितांत ही नया उपक्रम है।

भाषायी स्वतंत्रता के इस ऐतिहासिक संघर्ष में संताली को आठवीं

विश्वविद्यालय, राँची से एमए किया। फिलहाल आप महिला महाविद्यालय, राँची में नागपुरी की प्राध्यापक हैं।

एमए करने के दौरान ही आपकी रुचि नागपुरी साहित्य में हुई और पहली रचना 'नागपुरी कला संगम' पत्रिका में छपी। नागपुरी भाषा में आपकी रचनाएं अनेक पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर छपती रहती है। आपका एक कविता संग्रह और शोधग्रंथ शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है।

शकुंतला मिश्र : गुमला के दुंदुरिया गांव में एक मई 1962 को जन्मी शकुंतला मिश्र की माता जगतारिणी मिश्र और पिता जगेश्वर मिश्र हैं। आप आकाशवाणी, राँची में वरीय उद्घोषिका के पद पर कार्यरत हैं और नागपुरी भाषा की चर्चित लेखिका हैं। 'नागपुरी साहित्य के विकास में आकाशवाणी राँची का योगदान' विषय पर आप शोधरत हैं और सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में 'सातो नदी पार' नागपुरी उपन्यास आपकी उपलब्धि मानी जाती है। झाारखंड झरोखा, राँची से आपके संपादन में शैक्षणिक जरूरतों के लिए कई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है जिनमें 'मंजर' (2 भाग), 'टोंगरी आउर पझरा' (2 भाग), 'बनफूल' (2 भाग), 'बन केवरा', 'रस मंजरी', कहानी संकलन 'एक चकता रउद' और 'नागपुरी साहित्य गोछा' प्रमुख है।

भाषा-साहित्य न सिर्फ अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है, बल्कि यह सामाजिक पुनर्गठन और समता का भी अनिवार्य माध्यम है। समाज को स्वस्थ, सुन्दर बनाने, अपनी संस्कृति को बचाने और आगे बढ़ाने के लिए महिला लेखन को रेखांकित करना सयम की मांग है। उनकी 'अनुपस्थिति' को नकार कर उपस्थिति को स्वीकार करना होगा। उन्हें प्रोत्साहित करना होगा। संघर्ष और सिरजन में उनकी साझेदारी/दावेदारी कबूल करनी होगी। तभी झारखंडी संस्कृति में निहित बुनियादी मूल्यों को बचाया जा सकेगा।

एक संग्रह रोमन लिपि में 1924 ई. में प्रकाशित किया। 1900 से 1925 ई. के बीच संताली भाषाओं में ईसाई धर्म संबंधी दर्जनों पुस्तकें लिखी गयीं। बोडिंग ने संताली में बाइबल का भी अनुवाद किया और एक-दो भजन-संग्रह भी प्रकाशित किये। जैसे-जैसे संतालों में शिक्षा का प्रसार और अपनी भाषा का प्रेम बढ़ता गया वैसे-वैसे साहित्य की विभिन्न विधाओं में मौलिक नई रचनाओं की सृष्टि भी होने लगी। काव्य क्षेत्र में पहले पाउल जुझार सोरेन का 'ओनोंड़हे बाहा डालबाक्' (फूलों की डाली) रोमन लिपि में 1935 में, पंचानन मारडी का 'सेरेञ इता' (गीत के बीज) बांग्ला लिपि में 1948 ई. में, ठाकुर प्रसाद मुर्मू का 'एभेन' आड़्' (जागरण गीत) बांग्ला लिपि में 1951 ई. और शारदा प्रसाद किस्कू का 'भुरका इपिल' (शुक्रतारा) देवनागरी लिपि में 1953 ई. में प्रकाशित हुआ। 1953 ई. में ही डोमन साहू 'समीर' का 'दिसोम बाबा, (राष्ट्रपिता) नाम से एक काव्य पुस्तक देवनागरी में आया।

कथा-साहित्य में आर. आर. के. रपाज का पहला उपन्यास 1946 ई. में 'हाड़मावाक आतो' (हाड़मा का गांव) के नाम से प्रकाशित हुआ। यह वास्तव में आर. कास्टेयर्स के अंग्रेजी उपन्यास 'हाड़माज भिलेज' का अनुवाद है। दूसरा उपन्यास नुनकू सोरेन ने 1952 ई. में लिखा 'मुहिला चैवेत दाई' (अध्यापिका महिला)। संताली का पहला कहानी-संग्रह 'कुकम्' (स्वप्न) देवनागरी लिपि में 1952 ई. में प्रकाशित हुआ, जिसके लेखक हैं बाल किशोर बासुकि। दूसरा संग्रह 'समीर' जी का है - 'बुलमुण्डा' (पियक्कड़)। प्रेमचन्द की कुछ प्रसिद्ध कहानियों का अनुवाद भी इन्होंने किया।

नाटक के क्षेत्र में मयूरभंज के रघुनाथ मुर्मू और रूप नारायण श्याम ने पहले काम किया है। रघुनाथ मुर्मू ने 'बिदु चंदन' और 'खेरवार वीर' नामक दो नाटक क्रमशः 1942 और 1952 ई. में बांग्ला लिपि में लिखा जबकि रूप नारायण श्याम ने 'आले आतो' (हमारा गांव) 1953 ई. में देवनागरी लिपि में लिखा। संप्रति संताली साहित्य की समृद्धि और विकास के लिए सैकड़ों लेखक और कवि कटिबद्ध हैं, जिनमें शिवलाल किस्कू, शिकार किस्कू, जेठा हेम्ब्रम, शिवराम प्रकाश, कृष्ण कुमार मुर्मू, सुजल सोरेन, चैतन्य मुर्मू, आर. एस. किस्कू, मुंशी चन्द्र मुर्मू, दुर्गा प्रसाद मुर्मू, वेटका हांसदाक, योगेन्द्र हेम्ब्रम, चितु टुडू, आदित्य मित्र संताली, शीतल प्रसाद मुर्मू, हेम्ब्रम ओझा, बसीरुद्दीन मियां, भुवनेश्वर सोरेन, अन्नदा किस्कू रापाज, कृष्णचंद्र टुडू के नाम

अनुसूची में दर्ज किया जाना आदिवासी भाषाओं के राष्ट्रीय फलक पर प्रवेश की घोषणा है। वंचित समाज की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की इस धमक ने भारत के भाषायी जगत में अब तक बहिष्कृत रही आदिवासी भाषाओं की उपस्थिति से भद्रजनों को सकते में डाल दिया है। क्योंकि इससे उनका भाषायी एकाधिकार और नस्लीय श्रेष्ठता का दंभ दरक गया है। हालांकि संताली को छोड़कर अन्य झारखंडी आदिवासी भाषाएं अभी लिखित साहित्य के विकास की शैशवास्था में ही हैं और आदिम आदिवासी भाषाएं नितांत अलिखित, फिर भी उनके पास समृद्ध पुरखौती वाचिक साहित्य की थाती है। बीसवीं सदी के आधुनिक विचार और दर्शन की व्यक्तिवादी नायक समर्पित शब्दावली व परिभाषाओं से बाहर इस आदिवासी पुरखौती साहित्य परंपरा में सामूहिकता, सहजीविता तथा सहअस्तित्व को बचाने की छटपटाहट है।

अलिखित समाजों की भाषा-संस्कृति, कला-साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-परंपरा और जीवनानुभव उसके 'पुरखौती साहित्य' में संग्रहित होता है। इस दृष्टि से झारखंड के आदिवासी समुदायों का पुरखौती साहित्य अत्यंत समृद्ध है। जन कण्ठों और मौखिक परंपराओं में सुरक्षित आदिवासी पुरखौती साहित्य हमें न सिर्फ समाज और मनुष्य के सामाजिक होने की यात्रा पर ले जाता है, बल्कि यह दुनिया को बचाये रखने तथा इंसान को इंसान बने रहने की सामूहिक समझ और विश्वदृष्टि भी प्रदान करता है। झारखंड के सभी 32 आदिवासी और आदिम आदिवासी समुदायों के पुरखौती साहित्य में जीवन के आदिम रंग अपने निर्मल-धवल रूप में मौजूद हैं। धर्म, विश्वास, इतिहास, परंपरा, ज्ञान, कला-कौशल और सामाजिक शिक्षा के ऐसे सुलभ अध्ययन-अध्ययापन की 'कहन-सुनन' तकनीक-पद्धति तथाकथित सभ्य सुशिक्षित समाज विकसित करने में असमर्थ रहा है।

संताली भाषा-साहित्य

संताली में वाचिक पुरखौती गीतों और पुरखौती कथाओं का भरा-पूरा भंडार है। डब्ल्यू. जी. आर्चर ने 1942-45 ई. में तीन हजार संताली पुरखौती गीतों के दो संग्रह प्रकाशित किये- होड़ सेरेंञ और दौड़ सेरेञ। 'होड़ कहानी को' नाम से मिशनरी पी. ओ. बोंडिग ने संताल पुरखौती कथाओं का

'म्यूजिकल कल्चर ऑफ मुण्डा ट्राइब' संग्रहणीय कृतियां हैं।

मुण्डारी के शिष्ट साहित्य की शुरुआत बुदू बाबू के गीतों से होती है। इसके साहित्यिक विकास में रामदयाल मुण्डा, दुलायचन्द्र मुण्डा और कांडे मुण्डा के काव्य-संग्रहों (सेपेरेद सुरंग, सेलेद, हिसिर और ससंबा) का योगदान उल्लेखनीय है। सागु मुण्डा का 'मुण्डा कोआ इतिहास' मुण्डारी गद्य को एक नयी देन है। मुण्डारी कथा-साहित्य में मेनेस राम ओड़ेया का पांच भागों में प्रकाशित उपन्यास 'मतुराअ कानि' पी. पोनेट के शब्दों में 'मुण्डा जाति के जीवन का औपन्यासिक कोश' है। सुलेमान बडिंग, सुखदेव राम बरदियार, बलदेव मुण्डा, लक्ष्मण सुलंकी, भइया राम मुण्डा, भगवान सिंह, हस्सादेव मुण्डा, मोसो राम मुण्डा, जगजीवन सिंह मुण्डा, आचार्य बिरसा हंस, काशीनाथ सिंह कांडे, गंदुरा मुण्डा, भुवनेश्वर मुण्डा, मणिनाथ बरदियार, मंगल सिंह मुण्डा, प्यारी टूटी, गोविन्द टोप्पो, पारसनाथ ठाकुर, कमल टोप्पो, जय मसीह पूर्ति, बिसु लकड़ा, मनसिद बड़ायुद, सिकरा दास तिर्की, अमिता मुण्डा, हेसेल आदि ने मुण्डारी भाषा-साहित्य के विकास को अपने सृजन से नई ऊंचाइयां दी हैं। एम. एम. मुण्डू ने अपने जीवन भर के परिश्रम से मुण्डारी का एक वृहद् शब्द-कोष तैयार किया है। फादर पी. पोनेट का भी मुण्डारी भाषा के अध्ययन और विकास में उत्साहजनक योगदान रहा है।

मुण्डारी पत्रिकाओं में 'अबुआ दिसुम' और 'जगर साड़ा' का ऐतिहासिक महत्व है। आंशिक रूप से अन्य पत्रिकाओं में भी मुण्डा रचनाएं छपती हैं। फिलहाल मुण्डारी भाषा की जीवित पत्रिकाओं में 'सेंड़ा सेते' है, जो मासिक है और रांची से प्रकाशित हो रही है। इसके प्रकाशक-संपादक नवीन मुण्डू हैं। युवा मुण्डारी लेखक बिरेन्द्र कुमार सोय भी वर्ष से एक पाक्षिक --- और एक मासिक पत्रिका --- की शुरुआत की है। इसके अलावा भैयाराम मुण्डा फाउण्डेशन भी एक अर्द्धवार्षिक पत्रिका --- का प्रकाशन कर रही है।

खड़िया भाषा-साहित्य

गगनचंद्र बनर्जी और ग्रियर्सन के अतिरिक्त डॉ. एच. एस. विलिगिरी का खड़िया फोनोलौजी, ग्रामर एण्ड वोकेबुलैरी प्रमुख पुस्तक है, जिससे खड़िया भाषा-साहित्य की पर्याप्त जानकारी मिलती है। खड़िया भाषा के

सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और लेखकों की नई पीढ़ी लगातार आ रही है। हिन्दी साहित्य में संताली कविताओं के लिए निर्मला पुतुल का नाम चर्चित हुआ है।

संताली भाषा की पत्रिकाओं में सबसे पहले बोडिंग ने 1890 ई. में 'होड़ होपोन रेन पेड़ा' (संताल मित्र) निकाली थी, जो पीछे 'पेड़ा-होड़' के नाम से चली। यह रोमन लिपि में छपती थी। रोमन लिपि में ही दूसरी पत्रिका 'मारसाल ताबेन' (हमारा प्रकाश) 1946 ई. में मिशन की ओर से निकली थी। बिहार सरकार की ओर से 'होड़ सोम्बाद' 1947 ई. से देवनागरी लिपि में डोमन साहू 'समीर' के संपादन में निकाली गयी। अनुमानतः 200 संताली पत्र-पत्रिकाएं समय-समय पर प्रकाशित हुई हैं। इनमें से अधिकांश 4 से 10 अंकों तक निकली हैं, जबकि देवनागरी लिपि में डोमन साहू 'समीर' के संपादन में निकली बिहार सरकार की पत्रिका होड़ सोम्बाद 57 वर्ष, पश्चिम बंगला 33 वर्ष, सिली 23 वर्ष, एभेन साकवा 20 वर्ष तथा चिठि साकाम 10 वर्ष से लगातार प्रकाशित हो चुकी हैं। झारखंड से वर्तमान में तीन पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ है। 'सेताः' और 'पांजा' जमशेदपुर से श्याम चरण टुडू और घाटशिला से चंद्रमोहन किस्कु ने 'गालांग बाहा' की शुरुआत की है।

मुण्डारी भाषा–साहित्य

1943 ई. में डब्ल्यू. जी. आर्चर ने 1641 मुण्डा गीतों का संग्रह 'मुण्डा दुरंग' प्रकाशित कराया था। 1957 ई. में जगदीश त्रिगुणायत के मुण्डा गीतों का संग्रह 'बांसुरी बज रही' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रकाशित हुआ। श्री त्रिगुणायत की मुण्डा लोक-कथाओं का संग्रह भी सरकारी अनुदान से प्रकाशित है। लेकिन मुण्डा जाति और उसकी भाषा-संस्कृति के अध्ययन में सबसे बड़ा योगदान कैथलिक मिशन के फादर जौन हौफमैन का है। उन्होंने इन्साइक्लोपीडिया मुण्डारिका जैसे वृहद् ग्रंथ का चौदह भागों में संपादन किया और मुण्डारी का व्याकरण भी तैयार किया। मुण्डा भाषा में बाइबल का अनुवाद और भजनों के संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। मुण्डा धर्म, संस्कृति और विश्वास पर मेनस राम ओड़ेया द्वारा लिखित एवं पी. पानेट द्वारा संपादित-अनुवादित 'सिंङबोंगा ओड़ोः एटअः बोंगा को' अति महत्वपूर्ण पुस्तक है। सेम तोपनो का 'मुण्डा कुर्सीनामा' और वर्षों के अथक श्रम के बाद प्रकाशित

निकोलस टेटे के संपादन में पिछले वर्ष आए। उसके बाद से कोई नया अंक सामने नहीं आया है। 2003 से एक अन्य मासिक पत्रिका 'सातोःड' का प्रकाशन प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन द्वारा शुरू हुआ है, जो वर्ष 2007 से निबंधन के बाद 'सोरिनानिड' नाम से प्रकाशित हो रही है। यह झारखंड की पहली आदिवासी पत्रिका है, जो इंटरनेट पर ऑनलाइन उपलब्ध हुई।

कुड़ुख भाषा–साहित्य

कुड़ुख भाषा-साहित्य का क्षेत्र भी पुरखौती साहित्य से शिष्ट साहित्य की यात्रा में रचनाशीलता के नए सोपान पर है। इसकी भी नींव 19वीं सदी के अन्त में और बीसवीं शती के आरंभ में ईसाई पादरियों तथा अंग्रेज अधिकारियों ने डाली। सबसे पहले एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के जर्नल, अंक 35 (1868 ई.) में रेभ. एफ. वैच ने 'ब्रीफ ग्रामर एण्ड वोकेबुलैरी ऑफ उरांव लैंग्वेज' प्रस्तुत किया। फिर 1874 ई. में कलकत्ता से रेभ. ओ. लैक्स और जार्ज कैम्पबेल का 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दि उरांव लैंग्वेज' प्रकाशित हुआ। 'एपिटोफ ऑफ दि ग्रामर ऑफ उरांव लैंग्वेज (बैच)' की दूसरी रचना भी इसी समय प्रकाशित हुई। 1898 ई. में रेभ. एच. हॉन का 'कुड़ुख ग्रामर' और 1900 ई. में 'कुड़ुख इंग्लिश डिक्शनरी' छपा। कुछ बाद में रेभ. टी. वोटत्सन की उरांव डिक्शनरी (ए. से एल. तक) और 1924 ई. में रेभ. ए. ग्रिनगार्ड की 'ऐन उरांव इंग्लिश डिक्शनरी' तथा 'ए ग्रामर ऑफ दि उरांव लैंग्वेज एण्ड स्टडी इन उरांव एडवर्सरिया' प्रकाशित हुई। आह्लाद तिर्की का 'कुड़ुख सइट्ठा' (1949 ई.) और सी. व्लीस की 'ऐन इंग्लिश-उरांव डिक्शनरी' 1953 ई. में छपे। डॉ. मिखाइल तिग्गा का 'कत्थ अरा कत्थ विल्लिन ईदऊ' तथा एस. पी. पी. बाखला का 'कुड़ुख नैगस' इस क्षेत्र के अन्य अच्छे कार्य हैं। ऐसा ही व्याकरण है पी. सी. बेक्स का 'कुड़ुख-कत्था-बिल्ली' जिसके अब तक कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

कुड़ुख पुरखौती साहित्य के अध्ययन-प्रकाशन में रेभ. एफ. हॉन का 'कुड़ुख फोकलोर' (1909), ए. ग्रिनगार्ड का 'कुड़ुख फोकलोर', डब्लब्यू. जी. आर्चर का 'लील खा-रा-खेखेल' (दो भाग) 1941 ई. में प्रकाशित हुए। आर्चर के संग्रह में 2360 उरांव गीत हैं, जिसके बहुत-सारे गीत सदानी में हैं, और

व्याकरण, धवनिशास्त्र और भाषा-संस्कृति के ऊपर जुलियस बा ने महत्वपूर्ण काम किया है। इस दृष्टि से उनकी दो प्रकाशित पुस्तकें विशेष उल्लेख्य हैं - 'खड़िया डाः' तथा 'खड़िया ओस्नलो'। डॉ. मतियस डुंगडुंग ने हिन्दी और खड़िया का तुलनात्मक अध्ययन किया है। यह रांची विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है, जो 'हिन्दी और खड़िया' नाम से प्रकाशित है। आर. पी. साहू की प्रकाशित पुस्तक 'खड़िया व्याकरण' भी ध्यातव्य है। डॉ. रोज केरकेट्टा ने खड़िया पुरखौती कथाओं के साहित्यिक-सांस्कृतिक अध्ययन के साथ-साथ प्रेमचन्द की कहानियों का खड़िया में अनुवाद किया है। उनके द्वारा रचित-संपादित पुस्तकें हैं - खड़िया लोक कथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन, प्रेमचंदाअ लुङकोय, सिंकोय सुलोओ, लोदरो सोमधि (कहानी संग्रह), हेपड़ अवकडिञ बेर (कविता एवं पुरखौती कथा संग्रह), खड़िया निबंध संग्रह, खड़िया गद्य-पद्य संग्रह एवं जुझइर डांड़ (नाटक संग्रह)।

भाषा-संस्कृति और आधुनिक खड़िया शिष्ट साहित्य में प्यारा केरकेट्टा तथा नुअस केरकेट्टा का नाम सर्वोपरि है। आजादी के पहले और बाद के झारखंड में प्यारा केरकेट्टा ने न केवल साहित्य की विविध विधाओं में रचनाएं की, बल्कि 'बेरथा बिहा' कहानी लिखकर खड़िया के शिष्ट कथा-साहित्य की शुरुआत भी की। प्राथमिक स्तर पर झारखंडी भाषाओं में शिक्षा मिले इसके लिए उन्होंने बिहार टेक्स्ट बुक कमेटी से खड़िया प्राइमर छपवाया। खड़िया जाति के इतिहास और संस्कृति पर नुअस केरकेट्टा की 'खड़िया नदनी' एक ऐतिहासिक और प्रामाणिक ग्रंथ है। उनका दूसरा सबसे महत्वपूर्ण काम है खड़िया शब्दकोष का निर्माण। यह अभी तक अप्रकाशित है। प्यारा केरकेट्टा की 'लोदरो सोमधी' तथा रोज केरकेट्टा की 'भंवर' कहानी का तेलगु अनुवाद 'विपुला' मासिक पत्रिका में छप चुका है। जतरू खड़िया, गोपाल खड़िया, लोरेङ टेटे, मनसुख खड़िया, पतरस कुल्लू, ग्लोरिया सोरे, सरोज केरकेट्टा, फा. जोवाकिम डुंगडुंग, प्रो. मेरी एस सोरे, इग्नासिया कुल्लू, बुधनाथ बिलुंग, जबकि नई पीढ़ी में वंदना टेटे, क्लाउडिया सोरेङ, अबनेजर टेटे, अनूप कुल्लू, विजय प्रधान आदि खड़िया भाषा-साहित्य-संस्कृति के उत्थान में लगातार सक्रिय हैं।

पत्रिकाओं में 'तारदी' नामक त्रैमासिक खड़िया भाषा की पहली पत्रिका है जो रुक-रुक कर निकलती रही है। इसके अंतिम दो अंक फा.

शांति खलखो, बासंती कुजूर, महेश अगुस्टीन कुजूर, अजय तिर्की, जेवियर कुजूर, रंजीत तिग्गा, सहल एक्का, इसदोर खेस्स, ज्योति लकड़ा आदि नये रचनाकार हैं।

कुड़ुख पाठ्य-ग्रंथों की परंपरा 1937 ई. से शुरू होती है। इसी वर्ष सामुएल रंका की कुड़ुख वर्णमाला आयी। 1939 ई. में मिखाइल तिग्गा ने 'कुड़ुख वचना गहि मुंत्ता पुथी', 'अलखना रिरियारना', 'परिदगरगे अंगियाना पुथी', 'रिझवचना' आदि की रचना की। इसके बाद 1948 ई. में जोहन मिंज ने 'कुड़ुख कत्था सिखरा,' 'आगे मुंक्ता पुथी' और सी. के. टोप्पो ने बोली गणित और लील खोरा गणित की दो पुस्तकें तैयार की। इस परंपरा का विकास है आइ.ए. और बी.ए. के लिए उरांव रचना की पुस्तकों का संकलन, जिसे कुड़ुख साहित्य परिषद् ने तैयार और रांची विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। कुड़ुख में बीज बिनको, बोलता, धुमकुड़िया, नाम कुड़खत, पड़हा, सिनगी दई आदि पत्रिकाएं समय-समय पर निकलीं और बन्द हो गईं। छत्तीसगढ़ के जशपुर से प्रकाशित 'नाम कुड़ुखत' पत्रिका ही वर्तमान में नियमित है। इसके प्रकाशक-संपादक हैं डॉ. ए तिर्की। हाल ही में इनके द्वारा संपादित एवं संग्रहित कुड़ुख डिक्शनरी भी प्रकाशित हुई है।

हो भाषा–साहित्य

हो भाषा एवं जाति का भी सर्वप्रथम अध्ययन ईसाई मिशनरियों द्वारा ही हुआ। 'हो' अध्ययनकर्ताओं में एस. आर. टिकेल, जी. कैम्पबेल, डालटन, ग्रियर्सन, लायनोज, बरोज आदि अंग्रेज मिशनरियों का नाम प्रमुख है। भारतीय विद्वानों में सुकुमार हलदार, टी. सी. दास, एन. चटर्जी, डी. एन. मजुमदार आदि का नाम इसके बाद उल्लेखनीय है, जिन्होंने गंभीर शोध-अध्ययनों के द्वारा 'हो' समुदाय और उसकी भाषा के विविध पक्षों को वृहत्तर दुनिया से परिचित कराया। भीमराव सुलंकी और मिखाइल तिग्गा ने इसके व्याकरण पर काम किया है। हो पुरखौती गीतों के संग्रह का प्रथम प्रयास सुकुमार हलदार ने किया, जिसका प्रकाशन बंगाल एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में 1915, 1916 और 1923 ई. में हुआ। डब्ल्यू. जी. आर्चर

जो उरांवों में प्रचलित हैं। बिहारी लकड़ा का 'कुड़ुख-डंडी' और तेजू भगत, थोथे उरांव तथा जमुना भगत का 'चाजिका कुड़ुख डंड़ी' भी पुरखौती गीतों का उल्लेखनीय संग्रह है। आर्चर ने उरांव गीतों की व्याख्या में तीन पुस्तकें अंग्रेजी में लिखी हैं- 'दि ब्लू ग्रौभ' (1944), 'दि डव एण्ड दि लेपर्ड' (1941 ई.) और 'एमंग दि ग्रीन लीव्स'। धर्मदास लकड़ा की चर्चा भी पुरखौती गीतों के संग्रह के संदर्भ में आता है। इनके अलावा दो और नये संग्रहकर्ता हैं प्रो. इन्द्रजीत उरांव और प्रो. बासंती कुजूर। इन्द्रजीत उरांव ने 'कुड़ुख सहे डंडी' जबकि बासंती कुजूर ने 'दव बिल्ली' नाम से संग्रहों को प्रकाशित किया है। कुर्दला कुजूर ने भी उरांव समाज के पुरखौती गीतों का संग्रह किया है। 'लोकगीत-झारखण्ड कुड़ुख गीत' शीर्षक से उनका संग्रह दो खण्डों में वर्ष 2005 में दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। भीखू तिरकी की पुस्तक 'उराँव-सरनाः धर्म और संस्कृति' में, जिसका 2011 में प्रकाशन हुआ है, सरहुल, करमा एवं अन्य पर्व संबंधी 600 से अधिक कुड़ुख लोकगीत शामिल किए गए हैं।

कुड़ुख भाषा के पुरखौती कथासंग्रह में जुलियस तिग्गा का महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी तीन प्रमुख पुस्तकें हैं-'कुड़ुख सन्नी खीरी', 'कुड़ुख-कत्थ खोड़ठा' और 'कुड़ुख-कत्थ-जतरा'। बाइबल का कुड़ुख अनुवाद जिसे रेभ. उरवानुस कुजूर ने किया है, अभी तक अप्रकाशित है। इसके अतिरिक्त कुड़ुख डंडी, नीना पुथि आदि ईसाई भजनों के संग्रह हैं।

कुड़ुख आधुनिक काव्य के विकास में दवले कुजूर का अन्यतम स्थान है। उनका 'मुंता पुंप झुंपा' 1950 ई. में प्रकाशित हुआ जबकि कई गीत अब भी अप्रकाशित हैं। डॉ. वीपी केशरी के मुताबिक दवले कुजूर के स्वच्छंद गीत अंग्रेजी के शेली, कीट्स और हिन्दी के छायावादी कवियों के भाव और शिल्प सौंदर्य के समकक्ष हैं।

इनके अतिरिक्त पद्मश्री जुएल लकड़ा, जस्टिन एक्का, एलिस एक्का, जुगिया भगत, बिहारी लकड़ा, हरिबंश भगत, आयता उरांव, लोहरा उरांव, डॉ. फ्रांसिस एक्का, फादर पी. एक्का, डॉ. निर्मल मिंज, एडमंड टोप्पो, डॉ. ए तिर्की, महली लिविन्स तिर्की, महादेव टोप्पो, फ्रांसिस्का कुजूर की रचनाओं से कुड़ुख साहित्य समृद्ध हुई है। 'इन्नांलता' नाम से आधुनिक जीवन का कथात्मक चित्र प्रस्तुत करते हुए इग्नेस कुजूर ने कुड़ुख को पहला उपन्यास दिया। प्रो. इन्द्रजीत उरांव का लघु नाटक भी छप चुका है। डॉ.

रचित 'हो ग्रामर एण्ड वोकेबुलैरी' तथा डॉ. आदित्य प्रसाद सिन्हा लिखित - 'हो लोक कथा : एक अनुशीलन' एवं 'हो भाषा और साहित्य का इतिहास' प्रमुख है।

हो शिष्ट साहित्य में निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं - सतीश कुमार कोड़ाह लिखित - सेंगेल (क्रांतिकारी, देश-प्रेम से संबंधित), सतीश रूमुल (जागृति गीत) हो चपाकड कानि, सतीश तंत्र संहिता, चास रेयः ताक, शिवचरण बिरूवा लिखित दिशुम रूमुल, मागे दुरङ, डॉ. दुर्गा पुरती रचित -आदिवासी सिबिल दुरङ, आदिवासी देयोंआ, आदिवासी मुनि, उरिः, केड़ा थोवा रेड़ रानु, प्रधान गागराई लिखित - बोंगा बुरूको, होड़ी होन को, मरङ बोंगा, गोसाइ देवगम कृत - मागे पोरोब, लको बोदरा रचित-वारङ चिति (लिपि संबंधी), पोम्पो, षार होरा (नाटक), रघुवंश (नाटक), होरा-बारा, हो हयम पिटिका (भाषा व्याकरण), हलङ-हलपुङ, श्री धनुर सिंह पुरती लिखित - हो दिसुम हो होनको (सात भागों में प्रकाशित), श्री कमल लोचन कोड़ाह 'हो' लिखित इटा-बटा नला बसा, जोअर, पेरेम सर) (प्रेम काव्य) आदि। इन लेखकों एवं कवियों ने हो साहित्य की समृद्धि में अहम् भूमिका निभायी है।

हो भाषा के अन्य यशस्वी रचनाकारों में श्री देवेन्द्र नाथ सिंकू, अनन्त कुमार पिंगुआ, प्रो. बलराम पाट पिंगुआ, योगेन्द्र मुनि, बी. एल. तमसोय, मुनि चक्रधर आदि के नाम प्रशंसनीय हैं। श्री धनुर सिंह पुरती ने 'हो दिसुम हो होनको' पुस्तक सात भागों में लिखी है, जिनमें हो जनजाति के जन्म, विश्वास, मरण शिकार, खेल, पर्व-त्योहार, पुरखौती कथा आदि का संकलन है। हो साहित्य रचना में बलराम पाट पिंगुआ, श्रीराम हेम्ब्रम, अनंत कुमार पिंगुआ, शंकरलाल गगराई, गोपीनाथ तियु, हिलो, योगेन्द्र मुनि, विश्वनाथ बोदरा, देवेंद्रनाथ सिंकू, सोंगा सुंडी, बी. एल. तामसोय, मुनि चक्रधर गुइयां, बुधराम हेम्ब्रम, जे. सी. हेस्सा, हरिहर सिंह सिरका, बाबू लाल मुर्मू, घनश्याम गागराई, डोबरो बुढ़िउली आदि रचनाकारों का योगदान है। थॉमस सुण्डी का कथाचित्र (कॉमिक्स) भी बाजार में उपलब्ध है। लेकिन भाषा-साहित्य और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिहाज से कोल गुरु लको बोदरा का कार्य अविस्मरणीय एवं अद्वितीय है।

हो पुरखौती साहित्य की कई पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं, जिनमें डॉ. एस. के. तियु द्वारा प्रकाशित तुर्तुङ, सेंयां मसकल, ओतोरोङ आदि प्रमुख हैं,

का 'हो दुरङ' और गोपीनाथ सेन का 'सौंग्स ऑफ दि होज' 1946 ई. में प्रकाशित हुए। कानूराम देवगम ने भी पुरखौती गीतों का संग्रह 'हो दुरङ' छपवाया, जो अब अप्राप्य है। 1948 ई. में एस. सी. राय के संपादन में रांची से प्रकाशित 'मैन इन इंडिया' (रांची) में उनके द्वारा अंग्रेजी में अनूदित कई हो पुरखौती कथाएं छपीं। सतीश कुमार कोड़ा 'सेंगेल' के 'चापाकड़ कहानी' में भी पुरखौती कथाएं संकलित हैं। शिवचरण बिरूआ के 'दिशुम जारी मागे दुरङ' और करुणाकर तिरिया के 'तिरिया दुदुगर' में हो गीतों का संग्रह है। हो विवाह-गीतों का एक संग्रह जयदेव दास 'अभिनव' ने 'सरजोम बा डुम्बा' के नाम से 1958 ई. में साहित्य-जगत् को दिया है। हो काव्य के साहित्यिक विकास में दुम्बी हो के गीतों को प्राथमिक श्रेय है! उनके गीत कोल्हान क्षेत्र में गांव-गांव में गाये जाते हैं। सतीश कुमार कौड़ा 'सेंगेल' का 'रूमल' एक उल्लेखनीय साहित्यिक कृति है। कौड़ा ने 'हो' भाषा में गीता का भी सुंदर अनुवाद प्रस्तुत किया है। बी. के. एस. जराह हो के समर्थ कवि हैं, जिनकी कविताओं का संभवतः एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

1915 से 1926 ई. तक काफी संख्या में हो पुरखौती कथाओं का प्रकाशन हुआ। हो कथाओं, पहेलियों, कहावतों, मुहावरों आदि का प्रकाशन जनरल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, मैन इन इंडिया, जनरल ऑफ द एन्थ्रोपोलोजिकल सोसाइटी ऑफ बॉम्बे आदि प्रतिष्ठित एवं ख्याति प्राप्त पत्रिकाओं में हुआ है। डी. एन. मजुमदार ने अपनी पुस्तक 'दि अफेयर्स ऑफ ए ट्राइब' में कुछ हो पुरखौती कथाओं का संकलन किया है। हो भाषा एवं साहित्य के विकास के लिए अन्य विद्वानों का भी योगदान है। इनमें जयदेव दास 'अभिनव कृत आंदी, सरजोम बाडुम्बा, हो भाषा साहित्य, डब्ल्यू. जी. आर्चर कृत 'हो दुरङ', सी. एच. बोम्पास का 'फोकलोर ऑफ कोल्हान' आदि उल्लेखनीय हैं। हो भाषा के विकास के लिए 1915 ई. में लाइनोज बरो ने 'हो व्याकरण' की रचना की थी। रे. ए. नरीरोट ने 'ग्रामर ऑफ द कोल' की रचना की थी। 'इनसाइक्लोपीडिया मुण्डारिका' जॉन हॉफमैन द्वारा लिखी गयी, जो मुण्डारी के साथ-साथ हो शब्दकोष के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। 'जेवियर हो प्रकाशन' संत जेवियर उच्च विद्यालय लुपुङ गुटु चाईबासा द्वारा हो भाषा एवं साहित्य के विकास की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किये जा रहे हैं। इसी प्रकाशन के द्वारा प्रकाशित फा. डेनी एस. जे. द्वारा

आदिवासी स्त्री संघर्ष के समर्थ संताली कथाकार के.सी. टुडू

हिन्दी साहित्य में आदिवासी समाज और उनका जीवन अब तक उपेक्षित है। हमारे हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान भारतीय समाज के इस सबसे उत्पीड़ित समुदायों की ओर लगभग नहीं के बराबर है। राष्ट्रीय मुख्यधारा का समाज आदिवासियों के पारंपरिक संसाधनों का दोहन-शोषण करने के लिए सभी वैध-अवैध तौर-तरीकों को आजादी के बाद से अपनाता आ रहा है, लेकिन राजनीति और समाज में उन्हें जगह देने को बिल्कुल तैयार नहीं है। हिन्दी साहित्य में भी यही रवैया है। भारत का वृहत्तर वंचित समाज जिसमें कि मुख्य रूप से पिछड़े, दलित और आदिवासी आते हैं हमेशा ही मुख्यधारा के लिए उपभोग की वस्तु भर रहे हैं। यही वजह है कि विभिन्न जातीय समूहों द्वारा अस्मिता, अधिकार और समान नागरिकता का संघर्ष अभी भी देश के अनेक हिस्सों में चलाये जा रहे हैं। इन आंदोलनों के फलस्वरूप वंचित समाजों ने न सिर्फ राजनीतिक एवं सामाजिक बल्कि साहित्यिक क्षेत्र में भी अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज करायी है। जैसे दलित आंदोलन। दलित आंदोलन के उभार से भारत के राजनीतिक परिदृश्य में हमने कई मिथकों और परंपरागत वर्चस्व को टूटते देखा है। दलित आंदोलन से उपजी बौद्धिक चेतना ने हिन्दी साहित्य को भी गहरे रूप से प्रभावित किया और अपनी रचनात्मक धमक से भारतीय साहित्य को एक नयी आभा दी। आज हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य की एक विशिष्ट पहचान है, जिसे दलित समाज के लेखकों ने ही अपनी मेधा से रचा है। परंतु आदिवासी समाज हिन्दी साहित्य में अभी तक अपनी उपस्थिति दर्ज नहीं करा सका है। इसकी मुख्य वजह दोनों समाजों के जीवन-दर्शन की भिन्नता है।

जिनका हो भाषा एवं साहित्य की प्रगति की दिशा में सराहनीय योगदान रहा है। सबसे नया पत्र 'जोहार सकम' जमशेदपुर से काशराय कुदादः के संपादन में प्रकाशित हुआ। 2006 के बाद से इसका प्रकाशन भी अनियमित है।

पुरखौती से लिखित साहित्य की आदिवासी यात्रा अविराम रूप से प्रगति पर है। प्रस्तुत लेख में सैकड़ों आदिवासी रचनाकारों और अनेक महत्वपूर्ण कृतियों के नाम स्थानाभाव के कारण हीं आ सके हैं। साहित्य रचना की उत्तरोत्तर प्रगति के इस स्वर में विषयों की सीमितता, रचनात्मक सुघड़ता और कलात्मक दक्षता हिंदी साहित्य के मानदंडों को खारिज करती हैं। बेशक! साहित्य सृजन का यह जो नया जज्बा है, वह बेमिसाल है। गुरु गोमके रघुनाथ मुर्मू, प्यारा केरकेट्टा, लाको बोदरा, आयता उरांव, बुदु बाबू, इग्नेस बेक और जयपाल सिंह मुण्डा ने भाषा, संस्कृति, आदि धर्म के संरक्षण-संवर्द्धन तथा लिपि एवं लिखित साहित्य का जो नवोन्मेष किया, वह उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। भाषिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति की आदिवासी जिजीविषा को इसी ऐतिहासिक तथ्य से समझा जा सकता है कि जब प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना भी नहीं हुई थी, गुरु गोमके रघुनाथ मुर्मू ने आदिवासी संस्कृति के पुनर्जागरण के लिए वृहत्तर झारखंड में 'आसेका' नामक संगठन का गठन कर डाला था। यही नहीं, साठ के दशक में ओलचिकि लिपि का पहला छापाखाना भी जमशेदपुर में वे शुरू कर चुके थे।

आदिवासी साहित्य के उत्तरोत्तर विकास की राह में कई नई चुनौतियां भी हैं, जिनसे रचनाशीलता के पहले चरण में ही लेखकों को जूझना पड़ रहा है। भाषा के मानकीकरण का सवाल, अनेक लिपियों का इस्तेमाल (कुड़ुख की तोलोंगसिकि, संताली की ओलचिकि, कुरमाली की झाड़ लिपि, मुण्डारी लिपि, पंचपरगनिया लिपि, खोरठा की खरोष्ठी लिपि एवं खड़िया लिपि), महिला लेखन की चिंताजनक स्थिति और इन सबके बीच राजनीतिक दावेदारी एवं भागीदारी तथा नितांत नई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अपनी सांस्कृतिक एकता व परंपरागत सामाजिक स्वशासी संगठन को बचाये रखने की चुनौती है। विकास की आधुनिक व्यवस्था और ग्लोबलाइजेशन से उत्पन्न नए खतरे अपनी जगह पर तो हैं ही।

सदस्य हैं।

साहित्य और संगीत प्रेमी डॉ. टुडू की 1968 में दो कृतियां 'जिवी झरना' (जीवन झरना) एवं 'ओनोड़हे सेरेंग बिंडा' (दोनों ही कविता संग्रह) प्रकाशित हुई। इनका द्वितीय संस्करण 2008 में आया। 1971 में 'जुरी खातिर' (जीवन साथी के लिए) नाटक काफी प्रसिद्ध हुआ। इसके कई मंचन हुए। 1981 में 'संताली गद्य-पद्य संग्रह' एवं 1985 में 'संताली पद्य संग्रह' सामने आया। 2005 में 'सिरिजोन' नाटक एवं 'सनताड़ी पारसी अनुरूम' (व्याकरण) छपकर आयी। इस वर्ष 2008 में भी उनकी दो किताबें आयी हैं 'संताली पुरखौतीसाहित्य' और 'सनताड़ी होड़सॉवहेत्'।

टूडू जी की भाषायी पकड़ संताली, उनकी मातृभाषा के साथ हिंदी, बांग्ला, उड़िया और अंग्रेजी में भी है। राष्ट्रीय एवं क्षेत्रिय स्तर की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं आकाशवाणी कलकत्ता, रांची, दिल्ली से विविध विषयों पर उनके लेख प्रकाशित तथा प्रसारित होते रहे हैं। मितसाय मित (बांग्ला), आधी दुनिया, आम आदमी, आदिवासी स्वर, समकालीन भारतीय साहित्य (हिंदी), उइपाले (तेलुगू) आदि पत्रिकाओं में उनकी कई कहानियां अनुदित एवं प्रकाशित हुई हैं। उड़िया में भी उनकी एक कहानी का अनुवाद व प्रकाशन हुआ है। उनकी प्रकाशित संताली कहानियों में साकोम (चूड़ी), मितबिसा हासा (एक बित्ता जमीन), मुचात विनिड़ (अंतिम परीक्षा), पे फुडू सासांग) (तीन दोने हल्दी), सिमदोयोत बाहा (मुर्गे की कलगी), सोतयुग और अंधविश्वास प्रमुख हैं। अब तक उनकी कविताओं के तीन संग्रह, नाटक के दो और भाषाविज्ञान व पुरखौती साहित्य पर तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रकाशित कथासंग्रह कोई नहीं है, लेकिन साहित्यिक लिहाज से उनकी कहानियों की चर्चा ज्यादा हुई है। नाटकों को भी खूब लोकप्रियता मिली है। संताली, हिन्दी और अंग्रजी में संताली भाषा-साहित्य पर उनके प्रकाशित लेखों की संख्या अच्छी खासी है। इसलिए यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि के. सी. टुडू कवि की बजाय मुख्यतः गद्य रचनाकार हैं। मूलतः वे एक कथाकार हैं।

उनकी अधिकांश कहानियों के केन्द्र में संताली महिलाएं हैं। ये कहानियां आदिवासी समाज में स्त्रियों की स्थिति को दर्शाती हैं और उन परम्पराओं पर कुठाराघात करती हैं जो महिलाओं को प्रताड़ित या वंचित

ऐसा नहीं है कि आदिवासी समाज में सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन नहीं हुए। ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत ही नहीं वरन् समूची दुनिया में गुलामी के खिलाफ सबसे पहले आदिवासियों ने ही प्रतिकार किया। भारत की ही बात करें तो झारखंड आंदोलन आदिवासी अस्मिता और स्वायत्तता का सबसे पुराना आंदोलन है। इसके बावजूद बौद्धिक आदिवासी तबका लिखित साहित्य में नहीं दिखाई देता है। शायद इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि प्रकृति के ये स्वच्छंद नागरिक अभी तक स्वयं को लिखित अनुशासन के लिए नहीं तैयार कर पाये हैं। फिर भी पिछले छः-सात दशकों के दौरान आदिवासी रचनाकारों की एक पंक्ति अवश्य देखी जा सकती है, जो हिन्दी में कम और अपनी मातृभाषाओं में ज्यादा सक्षम ढंग से लेखन कर रहे हैं। इन लेखकों ने अपनी रचनाशीलता से अपनी-अपनी भाषाओं के साहित्य का विकास तो किया ही है, भारतीय साहित्य को भी आदिवासी जीवनानुभवों से लगातार समृद्ध कर रहे हैं। संताली आदिवासी समुदाय का विपुल साहित्य भंडार इस दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय है। भारत के सबसे बड़े आदिवासी समुदायों में से एक संताल समाज की भाषा संताली का संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया जाना संताली साहित्य के तीव्रतम आवेग का ही परिणाम है। डॉ. कृष्ण चन्द्र टुडू इसी संताल समुदाय के प्रतिनिधि और समर्थ लेखकों में से एक हैं जिन्होंने अपने सृजन से संताली अभिव्यक्ति को नई पहचान दी है।

झारखंड के पूर्वी सिंहभूम जिले में राजदोहा गांव है जहां 9 अप्रैल 1952 को हरिराम टूडू और रूकमणी टूडू (दोनों दिवंगत) के घर कृष्ण चंद्र टुडू का जन्म हुआ। संताली भाषा में साहित्य की विभिन्न विधाओं के धनी लेखक डॉ. के सी टुडू ने 1969 में हायर सेकंडरी, 1974 में राजनीतिक विज्ञान से बीए ऑनर्स, 1979 में एमए, 1980 में एलएलबी की परीक्षाएं पास की और संताली भाषा विज्ञान में डॉक्टरेट की उपाधि पायी। 1980 से जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग रांची विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहे हैं। युवाकाल से ही इनका रुझान साहित्य की ओर रहा। तब से शुरू हुआ उनका सांस्कृतिक सफर आज तक नाटक, संगीत, कविता एवं कहानियों के माध्यम से अविराम जारी है। दुर्लभ 'डाभोल' नामक संताली वाद्ययंत्र बजाना इनका शौक है। बहुत कम लोग जानते हैं कि वे साहित्य अकादमी, यूजीसी, विद्यासागर विश्वविद्यालय, मिदनापुर (प. बंगाल), कला संस्कृति विभाग, झारखंड के

सभी कहानियां ग्रामीण आदिवासी परिवेश की गंध में रची-बसी हैं जो जंगल से आती सखुए की खुशबू का अहसास कराती है।

टुडू की कहानियां संक्रमणकालीन आदिवासी समाज के अंतर्द्वंद्व की कहानियां है। आदिवासी समाज आज बाहरी और भीतरी दोनों ही तरह की समस्याओं व संभावनाओं के बीच एक निर्णायक संघर्ष में फंसा हुआ है। वह आधुनिकता और परंपरा के बीच छटपटा रहा है। उसे अपने जल, जंगल और जमीन की रिश्तेदारी निभानी है तो आधुनिक जीवन के आमंत्रण को भी स्वीकार करना है। अपनी कहानियों में टुडू आदिवासी समाज के इस सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष को पकड़ते हैं और समाज को अपनी आदिवासी पहचान बनाये रखते हुए बदलाव के लिए तैयार रहने का संदेश देते हैं। हालांकि संक्रमणकालीन स्थितियों से जूझने की इस कोशिश में वे कई बार मुख्यधारा की सोच से चोटिल होते हैं, जिससे उनके रचनाकार को सचेत रहने की जरूरत है। लेकिन संताली कथा साहित्य में अपने आदिवासी मिजाज और जीवनदृष्टि से वे निःसंदेह एक नई राह बनाने की ओर निरंतर अग्रसर हैं।

करती हैं। अपनी कहानियों में टुडू संताली समाज में व्याप्त कुरीतियों पर प्रभावशाली ढंग से चोट करते हैं और स्त्री समाज के पक्ष में मजबूती से खड़े होते हैं। वे न सिर्फ स्त्री उत्पीड़न के विरूद्ध तर्कपूर्ण ढंग से सवालों को उठाते हैं बल्कि स्त्री पात्रों के संघर्ष के माध्यम से उसके समाधान का सामाजिक रास्ता भी बतलाते हैं। इस दृष्टि से 'अंधविश्वास' एवं 'एक बित्ता जमीन' कहानी वर्तमान में आदिवासी समाज में व्याप्त डायन समस्या को सामने रखती है। समुदाय के भीतर संसाधन पर अधिकार को लेकर चल रहे स्त्री संघर्ष की सृजनात्मक अभिव्यक्ति इन कहानियों में बखूबी हुई है। वहीं, 'साकोम' कहानी संताल आदिवासी समाज में 'वधू मूल्य' के बदलते स्वरूप और सांस्कृतिक परिवेश में हो रहे बदलाव से परिचय कराती है। 'पे फुडू ससांग' में गैर आदिवासी से विवाह संबंध, बिठलाहा व्यवस्था और शुद्धिकरण के तहत फूडू की समाज में स्वीकारोक्ति का जिक्र है। हालांकि कहानी का नायक इसे इस कारण अस्वीकार करता है कि समाज में स्वीकारोक्ति सिर्फ उसकी होनी है, पत्नी की नहीं। इस तरह उनकी कहानियों में संताल आदिवासी समाज में वर्तमान के अंतर्द्वंद्व एवं पुरातन परिस्थितियों के कारण बनते बिगड़ते समाज का चित्रण है जिसमें बदलाव की अकुलाहट साफ-साफ देखी जा सकती है।

भारत के अन्य पुरखौती समाजों की तरह ही आदिवासी समाज की प्रवृति भी गद्य की नहीं रही है। गद्य उनकी सहज भाषा नहीं है। इसीलिए आदिवासियों का संसार इन दिनों भी सांगीतिक ही है। गीत-कविता रचने गाने वाले आदिवासी रचनाकारों की संख्या ज्यादा है। स्वयं टुडू जी की रचनात्मक यात्रा भी गीतों से हुई है। लेकिन उनका लेखकीय कला-कौशल कथा साहित्य में सर्वाधिक सशक्तता के साथ प्रस्फुटित हुआ है। वे अपनी कहानियों में विषय को पूरी संजीदगी से उठाते हैं और आदिवासी पुरखौती परंपरा के अनुरूप आधुनिक भाव-दृष्टि से उसे रचते हैं। शिल्प, शैली और कथा के दृष्टिकोण से टूडू जी अपने आदिवासीपन के साथ एक नवीन आस्वाद और मौलिकता के साथ सामने आते हैं। उनकी सरलता देशी शब्दों के पारंपरिक अलंकरणों का सौंदर्य लिए हुए है। उनकी कहानियां आधुनिक जीवनदृष्टि से भरपूर हैं और पुरखौती परंपरा में मौजूद समयविरूद्ध कुरीतियों को चुनौती देती हैं। उनके कथाशिल्प की सबसे बड़ी खासियत यह है कि

लिखित साहित्य में कलात्मकता नहीं, है, सौंदर्यबोध का अभाव है, साहित्यिक मानदंडों पर वह खरी नहीं है ... आदि-आदि। वैसे, ये हमला तब हुआ जब वे दलित साहित्य को अपने भीतर समाहित नहीं कर पाये। वरना पहले-पहल तो उनकी कोशिश यही थी कि वे ही दलित साहित्य का प्रतिनिधि रचनाकार बन जाएं। परंतु दलित साहित्य के विचार, आवेग और उनकी एकता ने मुख्यधारा के वर्चस्ववादी ताकतों के मंसूबों पर पानी फेर दिया। तब, वे साहित्य का पंडित बनकर चिल्लाने लगें कि दलितों द्वारा रचित साहित्य साहित्य ही नहीं है।

खैर, यह प्रसंग इसलिए कि दलित साहित्य के मोर्चे पर हार मिलने के बाद अब उनकी कोशिश आदिवासी साहित्य को हड़पने की है। जिन लोगों का जोर दलितों पर नहीं चल सका और लाख कोशिशों के बावजूद भी जब वे दलित साहित्य की पांत का अगुआ नहीं बन सके, तो अब उनकी सारी उम्मीदें आदिवासियों पर आकर टिक गई है। इसलिए आप देखेंगे कि आदिवासी इलाके में सारा जीवन गुजार देने के बाद भी जिन्हें कभी उनकी सुध नहीं आई, कभी उनके भाषा और साहित्य को स्थान नहीं दिया, जीवन भर हिंदी में लिखते रहे, हिंदी समाज का ही हिस्सा बने रहे, अचानक से आदिवासी साहित्य के मसीहा बन बैठे हैं। मजे की बात है कि रातों-रात वे देश की सभी आदिवासी भाषाओं के जानकार भी हो गए हैं। कल तक गुमनामी में थे, अब आदिवासी साहित्य का मसीहा बनकर सुर्खियों में छाये हुए हैं, विभिन्न सरकारी अकादमियों और संस्थाओं से पद, प्रतिष्ठा, पुरस्कार हासिल कर रहे हैं।

दरअसल, यह भी असहमति की अभिव्यक्ति को कुंद करने का पुराना ब्राह्मणवादी तरीका है, कि आप उनका अगुआ व तारणहार बनकर उसे अपने मनोनुकूल बना लीजिए या फिर पूरा का पूरा ही हड़प जाइए। इस साजिश को दलित लेखक समझते थे, इसलिए अपने यहां उनकी दाल नहीं गलने दी। आदिवासी चूंकि बाहरी समाज के जटिल पेंचों को बखूबी नहीं समझ पाए हैं, इसलिए आदिवासी साहित्य के नाम पर फिलहाल बाहरी लोगों की चांदी है और उनकी दूकान चल निकली है। लेकिन यह लंबे समय तक नहीं चलनेवाला है और जल्दी ही यहां भी उनका वही हश्र होनेवाला है, जो दलित साहित्य आंदोलन ने उनके साथ किया है।

आदिवासी साहित्य रच रहा है मानवीय गरिमा वाला विश्व

यह बात शुरू से सुनती-पढ़ती रही हूं कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। लेकिन जब हम भारत के मुख्यधारा के साहित्य को देखते हैं तब लगता है कि यह पूरी तरह से सत्य नहीं है। क्योंकि हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में आदिवासी जीवन लगभग नहीं के बराबर है। कुछेक रचनाएं जरूर गिनायी जा सकती हैं परंतु हकीकत तो यही है कि आदिवासी जीवन भारतीय साहित्य का अनिवार्य रचना-तत्व नहीं रहा है। यही बात उन आदिवासी लेखकों पर भी लागू होती है जो हिंदी समाज और सोच के प्रभाव में साहित्य रच रहे हैं। जबकि जो आदिवासी रचनाकार विशेषकर और प्राथमिक रूप से अपनी मातृभाषाओं में लिख रहे हैं वे ज्यादा बेहतर और प्रभावी ढंग से आदिवासी जीवन की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। निश्चित रूप से आज लिखे जा रहे आदिवासी साहित्य में मूल स्वर विद्रोह (असहमति) का है। गैर-आदिवासी लेखकों के साथ-साथ बाहरी सोच से प्रभावित आदिवासी रचनाकारों के साहित्य में जबकि 'वेदना' पर जोर है। औपनिवेशिक दिनों के बाद से आज तक आदिवासी भाषाओं में रचे गये पुरखौती और शिष्ट दोनों ही साहित्य में असहमति का स्वर लगातार तीखा हुआ है। इस तीखेपन को विद्रोह मान लिया जा रहा है। क्योंकि तीखी असहमतियां और बाहरी हमलों से बचाव का स्वर आदिवासी साहित्य में पूरी तल्खी के साथ दिखाई पड़ता है। यह शायद इसलिए है कि एक की दृष्टि 'बाहरी' है और दूसरे की परंपरा से अर्जित 'निज' दृष्टि है।

भारत में जब दलित साहित्य की शुरुआत हुई थी तो पहले उसका खूब विरोध हुआ। तर्क कई दिये गये। सवाल उठाया गया कि दलितों द्वारा

मंजु ज्योत्सना 'हंस', हेराल्ड एस। टोप्पनो, वाल्टर भेंगरा 'तरुण', मार्टिन जॉन 'अजनबी', विशु लकड़ा, मंगल सिंह मुंडा, सिकरादास तिर्की (सभी मुंडारी), रोज केरकेट्टा, सरोज केरकेट्टा, ग्लोरिया सोरेंग, जोवाकिम टोप्पनो, वंदना टेटे, बंधु खड़िया, विजय प्रधान, अरविंद विजय बिलुंग (सभी खड़िया), कानूराम देवगम, धनुर सिंह पुर्ती, घनश्याम गागराई आदि। दूसरी ओर दयामनी बारला, वासवी, सुनील मिंज, जेवियर कुजूर, ग्लैडसन डुंगडुंग, फिलिप कुजूर और पुष्पा टेटे जैसे लेखक-लेखिकाएं साहित्येत्तर रचनाओं में पूरे दम-खम के साथ प्रतिरोध को दर्ज करते हैं।

आदिवासी साहित्य अपनी सामुदायिक अस्मिता, पहचान और संस्कृति के लिए सजग तो है ही, परंपरागत अधिकारों के प्राप्ति के लिए चलाये जा रहे संघर्ष की भी पुरजोर अभिव्यक्ति है। आदिवासी लेखन मुख्यधारा के रंगभेद एवं नस्लीय साहित्य के मानदंडों को नकारते हुए अपने प्रतिमान गढ़ रहा है। आदिवासी साहित्य की अपनी भावभूमि, सौंदर्यबोध और विश्वदृष्टि है। वह सामूहिक मूल्यों और सहअस्तित्व में यकीन करता है और इसलिए वहां व्यक्तिवादी नायक नहीं हैं। सदियों से उपेक्षित, वंचित और प्रताड़ना झेल रहे आदिवासी समाज और साहित्य को अब और ज्यादा दिनों तक हाशिए पर नहीं रखा जा सकता। वे आ रहे हैं और रच रहे हैं मानवीय गरिमा से युक्त एक ऐसी नई दुनिया, जिसकी आकांक्षा पूरी दुनिया करती रही है।

इस परिदृश्य में जब हम आदिवासी साहित्य पर निगाह डालते हैं तो पाते हैं कि जिस तरह से अभी भी आदिवासी समुदाय चौतरफा संकटों से घिरे हैं, ठीक उसी प्रकार से उनका साहित्य भी कई तरह के हमलों की चपेट में है। एक तरफ आदिवासी समुदाय को आजीविका के लिए कम से कम दो से तीन भाषाओं को सीखना पढ़ता है, वहीं उन्हें अपनी पूरी शिक्षा-दीक्षा एक नये सामाजिक-सांस्कृतिक माहौल में लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वे न केवल अपनी गांव-जमीन से बेदखल किये जाते हैं, बल्कि उन्हें अपने नैसर्गिक संसाधनों, परंपराओं, जीवन-मूल्यों और परिवेश से भी पूरी तरह से विस्थापित होना पड़ता है। जो इसके बाद भी गांवों या शहरों में बचे रहते हैं, उन्हें 'जंगली' व 'असभ्य' बनकर समाज और सरकार के रहमोकरम पर निर्भर रहना होता है। हर तरह की वंचना झेलते हुए। यह समूचा अनुभव संसार हम आदिवासी रचनाओं में प्रमुखता से देखते हैं। इन रचनाओं में जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूं 'वेदना' से ज्यादा 'असहमति' है। वंचित और चोटिल मन-देह है। दर्द से विकृत चेहरा है। पीड़ा, आक्रोश से फटी-फटी और असहमतियों से फैली व सवाल करती हुई आंखें हैं।

सत्तर के दशक तक आदिवासी लेखकों में हिंदी, अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं में लिखने की प्रवृति अधिक थी। लेकिन फिर धीरे-धीरे अपनी मातृभाषाओं में साहित्य रचा जाने लगा। इस बदलाव के पीछे मुख्यरूप से झारखंड आंदोलन की मजबूत उपस्थिति थी और शिक्षा के कारण तेजी से विकसित होती चेतना भी। नब्बे तक आते-आते हिंदी और आदिवासी, दोनों ही भाषाओं में आदिवासी लेखकों, कलाकारों और गायकों की उल्लेखनीय संख्या दिखाई देने लगती है। चालीस-पचास के दशक में संताली के रघुनाथ मुर्मू, हो समुदाय के लको बोदरा, खड़िया समाज के प्यारा केरकेट्टा, मुंडारी के बुदु बाबू, और कुड़ुख साहित्य के आयता उरांव जैसे अगुआ संस्कृतिकर्मी आदिवासी भाषा-साहित्य, पहचान और अस्मिता व 'सांस्कृतिक नवोन्मेष' के प्रतीक बन जाते हैं। इस विरासत को रचनात्मक साहित्य में हिंदी सहित अपनी-अपनी मातृभाषाओं में नई ऊंचाई तक ले जाने वाले प्रमुख नाम हैं - अदित्य मित्र 'संताली', बाबूलाल मुर्मू 'आदिवासी', शिशिर टुडु, निर्मला पुतुल (सभी संताली), दवले कुजूर, एलिस एक्का, ग्रेस कुजूर, पीटर पॉल एक्का, जेम्स टोप्पो, महादेव टोप्पो (सभी कुड़ुख), रामदयाल मुंडा, दुलायचंद्र मुंडा,

विचार और जीवनशैली ने उन्हें पूरी तरह से बदल डाला है। वे कहीं से भी आदिवासी नहीं हैं, पर आदिवासी होने का दावा करते हैं।

अर्थात जिस झारखंड की कल्पना हमारे पुरखों और हमने की थी, वह कहीं परिलक्षित नहीं होता। 11 वर्ष के दौरान कठपुतलियों की तरह मुख्यमंत्री आते-जाते रहे। लूट का खेल धड़ल्ले से जारी रहा और हम भ्रम में जीते रहे कि हमारा 'अपना आदमी' राज कर रहा है। वह हमारी सुध लेगा और झारखंड राज्य आदिवासी राजनीति व समाज का एक आदर्श बनेगा। हम इस भ्रम में रहे कि सांस्कृतिक-आर्थिक अस्मिता और पहचान के लिए लड़ा गया झारखंड आंदोलन देश के विभिन्न हिस्सों में सम्मान के साथ याद किया जाने वाला आंदोलन है। जिसने आदिवासी राष्ट्रीयता की भावना बोया और जल, जंगल, जमीन, हासा-भाषा, मालिकाना हक के सपने देखने सिखाए। असम, अंडमान, नेपाल के झारखंडी मूल के आदिवासियों ने बहुत उम्मीद बांधी किंतु हमारे लोग खरे नहीं उतरे।

इतने लंबे समय बाद भी हमारे पास एक अच्छे विकास का खाका तैयार नहीं है। खाका होगा तभी तो ढांचा के बारे में भी सोचा जा सकेगा। सीमेंट, बालू, गिट्टी से कंक्रीट का बिल्डिंग तो डेवलप किया जा सकता है, लेकिन बुनियादी विकास के लिए उस जीवनदर्शन तक जाना होगा जिसमें समानता, सहअस्तित्व, सहभागिता जैसे मूल्य संरक्षित हैं। पर वहां तक जाने वाले कच्चे रास्तों पर कोई नहीं जाना चाहता। वह पैदल का रास्ता है। उस पर लग्जरी गाड़ियां नहीं जा सकती। लिहाजा पूरी सरकार और नौकरशाह फोरलेन-सिक्सलेन पर जोर दे रहे हैं। वे सरपट भागना चाहते हैं। पूरी स्पीड में। वे उस विकास के मॉडल को ही लागू कर रहे हैं जिसे आज से ढाई सौ वर्ष पहले हमारे लड़ाका पुरखों ने खारिज कर दिया था। हमारे लोगों ने बहुत पहले ही बिचौलियों और दलालों की शिनाख्त करते हुए उनके खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया था। पर आज के झारखंड की राजनीति और सरकार पूरी तरह से उन्हीं पर निर्भर है। बहुराष्ट्रीय और कॉरपोरेट दलाल आकाओं के सामने सरेंडर है। ऐसे में वाजिब है कि विकास, विस्थापन, पुनर्वास, महिला, भाषा किसी भी तरह की अपनी नीति के बारे में सोचने और उसे लागू करने की योजना उनके पास नहीं होगी। वे चाहेंगे भी नहीं कि वैसे संस्थानों और तंत्र का विकास हो, जिससे झारखंडी जनता की मुश्किलों को दूर करने का काम

भाषा, संस्कृति, जमीन और आदिवासी

15 नवम्बर 2000 बिरसा जयंती के अवसर पर झारखंड राज्य ढेर सारी उम्मीदों और आकांक्षाओं के साथ अस्तित्व में आया। इसके गठन की तुलना मैं सतावांस पैदा हुए बच्चे से करती हूँ। क्योंकि भाजपा-कांग्रेस-राजद की खींचतानी और श्रेय लेने की होड़ के कारण असमयपूर्ण परिणाम बना झारखंड। भौगोलिक-राजनीतिक कंटा-छंटा नक्शा का ढांचा तैयार था। 22 जिलों की मांग को दरकिनार कर 18 जिलों वाले एक ऐसे राज्य से आज हमारा वास्ता है जो राजनीतिक अस्थिरता और वैचारिक दिवालियेपन से ग्रसित है। अचानक राज्य गठन होने से एक अफरातफरी तो राजनीतिक स्तर पर हो ही गई थी। लगातार के संघर्ष में कभी हम सोच ही नहीं पाये कि आन्दोलन के बाद के 'निर्माण' के दौर की रूपरेखा क्या होगी? झारखंड लेना तो था ही अपने मान-सम्मान व हक-अधिकार के लिए, लेकिन लेने के बाद की तैयारी नहीं थी। विचार बहुत थे, योजना नहीं थी कुछ भी।

गुणात्मक रूप से झारखंड में कुछ भी नहीं सुधरा है। बिहार की जगह बस झारखंड लिखा जाता है। आदिवासी विकास की विभिन्न योजनाओं का ढेर सारा पैसा आता है और वापस लौट जाता है या दूसरी जगह खर्च हो जाता है। आदिवासियों का भूमि अधिग्रहण, उनका पलायन, विस्थापन और बढ़ गया है। लूट, अत्याचार और भ्रष्टाचार में बेतहाशा वृद्धि हुई है। रांची राजधानी बन गई है, पर अब यह आदिवासियों के लिए जगह नहीं बची है। जो पढ़े-लिखे और पैसेवाले आदिवासी राजधानी में रह गये हैं, उनकी जीवनशैली आदिवासियत से कटी हुई है। सखुआ के जंगल की जगह अपार्टमेंटों के जंगल में रहने वाले आदिवासियों को ग्रामीण आदिवासी जीवन परंपरा और संघर्ष की कोई चिंता या जुड़ाव नहीं रह गया है। गैर-आदिवासी

भाषा-संस्कृति से दूर किया जा रहा है। हमारे इतिहास को विकृत तरीके से पेश किया गया। लिहाजा, हमें उनका सब कुछ श्रेष्ठ लगने लगा है और अपना हेय। हम शारीरिक गुलामी से उबरे किन्तु मानसिक गुलामी कर ही रहे हैं। ऐसे में हम अपनी जमीन, खेत-खलिहान, जंगल, झाड़, भाषा, जातीय और सांस्कृतिक पहचान कैसे बचा पाएंगे? क्या किसी भी समुदाय के परंपरा, संस्कृति और जीवनमूल्यों को कागजों में बेजान पड़े कानूनों के बल पर बचाया और विकसित किया जा सकता है?

झारखंड एक नये विमर्श और एक नयी राजनीतिक कार्रवाई की मांग कर रहा है। हमारी झारखंडी राजनीतिक पार्टियां, नौकरशाह और बुद्धिजीवी इस नयी भूमिका के लिए तैयार नहीं दिखते। वे झारखंडी जनता के बलिदानों और आज भी संघर्षरत आदिवासी समुदायों को सुनना-समझना नहीं चाहते। उनके पास परंपरा और आधुनिकता के सामंजस्य और उससे विकसित होने वाली विकास की देशज-आदिवासी अवधारणा को गृहित करने की क्षमता नहीं है। क्योंकि वे उन्हीं मूल्यों और विचारों से संचालित हो रहे हैं, जिसके खिलाफ सदियों से झारखंड युद्धरत रहा है और आज भी अधिकार व सम्मान के सवाल पर कोई भी समझौता करने के लिए सहमत नहीं है। विकास की नयी अवधारणा और पुनर्निमाण की जनपक्षीय योजना व कार्रवाइयां वह बौद्धिक समाज ही रच सकेगा, जो अपने इतिहासबोध से लैस हो। न कि वे लोग जिनका आदर्श न्यूयार्क, लंदन और बिजिंग है। जल, जंगल और जमीन लील जाने के लिए फोरलेन-सिक्सलेन वाली सड़कें पूरे राज्य में पसर रही हैं। वक्त रहते यदि हमने संघर्षरत जनता के साथ एकताबद्ध हो कर अपनी बौद्धिक भूमिका तय नहीं की तो आदिवासी अस्मिता संघर्ष का पर्याय बना झारखंड एक ऐसा नकारात्मक मुहावरा बन जाएगा, जिसे कहने से कोई भी आदिवासी हिचकेगा। क्योंकि तब न जंगल होगा, न जमीन। इसी के साथ लुप्त हो जाएंगी वे भाषाएं जिसे हजारों साल से हमारे पुरखों ने सहेज रखा था और हमारी पीढ़ी को सौंपा था इस विश्वास के साथ कि हम भी उन्हें अपनी नयी पीढ़ी को सुपुर्द करेंगे।

शुरू किया जा सके। अड़ोस-पड़ोस या बिहार की नीतियों को भी आधा-अधूरा ही अपना रहे हैं, अपने सुविधा और स्वार्थ के मुताबिक। राजनीतिक अस्थिरता का आलम ऐसा रहा है कि जो आता है अपने हिसाब से चीजों को परिभाषित करता है। लिहाजा, लोगों में फिर से असंतोष उमड़-घुमड़ रहा है। यह झारखंड पूरी तरह से राष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय कॉरपोरेट घरानों, उनके दलाल राजनीतिज्ञों का है। झारखंडी जनता के पास सिवाय घोषणाओं और इस झूठे भ्रम के कि 'झारखंड' है, कुछ भी नहीं है। नवनिर्माण और तथाकथित विकास की अवधारणा और इस प्रक्रिया में आजीविका, अस्मिता और पहचान का सवाल हाशिए से भी बाहर चले गए हैं।

किसी भी राज्य की पहचान वहां की संस्कृति होती है। सांस्कृतिक धरोहर, इतिहास, भाषाई वैविध्य ही झारखंड की विशिष्ट पहचान रही है। पर यह कहने की जरूरत नहीं है कि किस तरह से राज्य बनने के 11वें वर्ष में भी इस सांस्कृतिक विशिष्टता को नकारा जाता रहा है। भाषा-संस्कृति को सदैव उपेक्षित किया जाता रहा है। युगद्रष्टा झारखंड आंदोलनकारियों ने तो इसके महत्व को समझा और संघर्ष को एक मुकाम तक पहुंचाया। किन्तु उनके कर्णधारों के लिए यह मुद्दा राजनीतिक लाभ देने वाला नहीं रहा। नतीजा आज सामने है कि अपने ही घर में हमारी मातृभाषाएं मरनासन्न अवस्था में पहुंच गई हैं।

इसमें दोष सिर्फ वोट बटोरने वाली पार्टियों का नहीं, लाश पर रोटी सेंकने वाले राजनीतिज्ञों का ही नहीं, हमारा अपना भी है। हमने उन्हें बिसरा दिया जिन्होंने यह कहा कि भाषा-संस्कृति ही हमारी मूल पहचान है। रघुनाथ मूर्मू, लाको बोदरा, प्यारा केरकेट्टा, आयता उरांव की सीख को तुच्छ माना। तथाकथित सुसभ्य, सुसंस्कृत होने के लिए जिस मुख्यधारा को हमारे लोग आदर्श मानते हैं क्या वह सही में मुख्यधारा है? जिस सामुहिकता, सहभागिता सहकारिता को पाठ दुनिया सीख रही है, वह आदिवासियों के जीवन दर्शन में है। जिस पुरखा भंडार से पुरखौती ज्ञान पाना चाहते हैं वह हमारे पुरखौतीगीतों, मंत्रें में है। मुख्यधारा वह कदापि नहीं हो सकता जिसमें आडंबर-छल प्रपंच लोभ के सारे हथियार हैं और जो दूसरों के हिस्से पर भी कुंडली मारे जमे हुए हैं।

दूसरों की भाषा, दूसरों के द्वारा लिखे इतिहास द्वारा हमें अपनी

संकल्प किया। परंतु व्यावहारिक अर्थों में प्राकृतिक संसाधनों के अबाध दोहन के लिए सभी राज्यों ने मनमाने ढंग से इसकी व्याख्या की और आदिवासी समुदायों की अशिक्षा व संवैधानिक अज्ञानता का लाभ उठाते हुए 1949 में भारत द्वारा लिये गये संकल्प को विलंबित रखा। यदा-कदा संविधान के कुछ प्रावधानों को लागू किया भी तो उसके मूल में उनके राजनीतिक लाभ का हिस्सा ही प्रमुख था न कि आदिवासी राष्ट्रीयताओं की अस्मिता और उनके नैसर्गिक अधिकार का मानवीय मसला।

बहरहाल, 2000 में गठित झारखंड में यह झारखंड आंदोलन का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि संभवतः भारत के 28 में से यह पहला राज्य होगा जहां इतनी संख्या में आदिवासी एवं देशज जनभाषाओं को द्वितीय राजभाषा का दर्जा मिला है। और वह भी तब, जब देश की 198 आदिवासी भाषाएं विलुप्ति के जबरदस्त संकट का सामना कर रही हों। एक अन्य पहलू यह भी है कि यह सरकार अथवा राजनीतिक दलों के 'विवेक' नहीं वरन् आदिवासी-देशज जनता ने इसे संघर्ष के जरिए हासिल किया है। याद ही होगा कि झारखंड की देशज-आदिवासी जनता ने कोयलकारो बांध और नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज के खिलाफ हुई लड़ाई में भी इससे पहले सरकार को झुका चुकी है। और यह दूसरी बार है जब इस 30 अगस्त को एक बार फिर सरकार को झारखंडी जनप्रतिरोध के सामने झुकते हुए सभी 9 झारखंडी भाषाओं को द्वितीय राजभाषा बनाने का फैसला कैबिनेट में लेना पड़ा है। पर क्या यह इतना आसान था? नहीं। आठ सालों के सघन मेहनत और लगातार के संघर्ष से ही यह संभव हो पाया। इन आठ सालों के दौरान हमने झारखंड और झारखंड के बाहर कई सम्मेलन किए, धरना पर बैठे, तीन-तीन मुख्यमंत्रियों पर दबाव बनाने की कोशिश की, कई मंत्रियों और विधायकों को मोबलाइज करने का प्रयास किया, पत्र-पत्रिकाओं में अनेकों लेख लिखे, कई बार सड़क पर उतरे। लेखकों, कलाकारों, साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों और छात्र-नौजवानों को संगठित और प्रेरित करते रहे। अपने तीनों प्रकाशनों - झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, जोहार सहिया और जोहार दिसुम खबर - के द्वारा लगातार भाषाओं की अस्मिता का सवाल उठाते रहे।

इस संघर्ष में सबसे मुश्किल समय था 23 अगस्त से 30 अगस्त तक

हमने सरकार को झुकाया है

भारत के पूर्वी इलाके के दो राज्यों, पश्चिम बंगाल और झारखंड में मई और अगस्त में दो बड़े बदलाव हुए। पश्चिम बंगाल में जहां 34 वर्ष बाद ममता की आंधी ने वाम मोर्चा की सरकार को उखाड़ फेंका, वहीं झारखंडी संस्कृतिकर्मियों के संगठन 'अखड़ा' 8 सालों के अथक संघर्ष के बाद राज्य में 9 आदिवासी एवं क्षेत्रीय भाषाओं को द्वितीय राजभाषा का हक लेने में सफल हुई। झारखंड विधानसभा के मानसून सत्र के आखिरी दिन यानी 3 सितंबर को अर्जुन मुंडा सरकार को इस संबंध में विधेयक पारित करते हुए 67 सालों से उपेक्षित झारखंडी भाषाओं को राज्य की द्वितीय राजभाषा के रूप में स्वीकार करना पड़ा। पश्चिम बंगाल के राजनीतिक बदलाव को मीडिया जगत में व्यापक जगह मिली लेकिन झारखंड में देशज-आदिवासी भाषाओं के ऐतिहासिक भाषाई संघर्ष और सांस्कृतिक जीत की चर्चा नहीं है। आजादी के सातवें दशक के अंत में घटित इन दोनों घटनाओं में से एक की प्रकृति तात्कालिक है और उसकी संभावनाएं मौजुदा राजनीतिक व्यवस्था की सीमाओं के पार जाने में अक्षम हैं, जबकि दूसरी परिघटना में इस सीमा के अतिक्रमण की पूरी संभावना निहीत है।

हम जानते हैं कि भाषाई अस्मिता का सवाल भारतीय गणराज्य का अहम सवाल रहा है। भारत के संघीय ढांचे की नींव भाषाई पहचान पर ही रखी गयी और इस सवाल की चपेट में 1947 से ही कई भारतीय राज्य जूझते रहे हैं। विशेषकर वे राज्य जहां देशज-आदिवासी समुदायों की बहुलता है। झारखंड आंदोलन देश के सबसे पुराने अस्मिता आंदोलनों में से एक है, जिसके दबाव के कारण ही संविधान में 5वीं एवं 6ठी अनुसूची की परिकल्पना की गई और भारतीय गणराज्य ने देश के आदिवासी हितों की सुरक्षा का

भाषा, साहित्य और आदिवासी स्त्रियां

Language in India has a deep class and caste connotation: therefore, a conflictual relation with languages becomes a conflict of identities ... Choosing a literary language is a metaphor for choosing a distinctive identity — not only cultural, but also social. In the Indian Subcontinent, the question of language in the wake of postAcolonial theories is still relevant and it is a hot issue in the literary and linguistic fields.

(Clara Nubile , The danger of gender: caste, class and gender in contemporary Indian women's writing, Sarup & Sons, 2003, Page 82)

जोहार और आप सभी को नये साल की बधाई। सबसे पहले मैं आभार व्यक्त करती हूं अंग्रेजी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय का, जिन्होंने मुझे यह अवसर प्रदान किया। अपने सभी आदिवासी समुदायों की तरह मैं भी अंग्रेजी से परिचित तो हूं, पर इस भाषा पर मेरी आधिकारिक पहुंच नहीं है। एक भाषा के रूप में मैं दुनिया की सभी भाषाओं का सम्मान करती हूं, लेकिन मैं जिस परिवार और समुदाय से आती हूं, झारखंड में जिन आदिवासी समुदायों के साथ काम करती हूं, वे जिस भाषा को जानते और समझते हैं, मैं खुद को उसी भाषा में अपने आपको अभिव्यक्त कर पाने में सक्षम पाती हूं। यानी कि मेरी मातृभाषा खड़िया, झारखंड की संपर्क भाषा नागपुरी और राष्ट्रभाषा हिंदी।

का दिन। जब हमलोगों को रात-दिन इस अभियान में लगे रहना पड़ा। लेकिन अंततः हमलोगों का संघर्ष और मेहनत सार्थक हुआ। अर्जुन मुंडा सरकार को सभी 9 झारखंडी भाषाओं को द्वितीय राजभाषा का दर्जा देना पड़ा।

जब हमने 2003 के नवंबर में अखड़ा की परिकल्पना रखी थी, तब बहुत समर्थन नहीं मिला था। आदिवासी-सदान के बीच का मतभेद एवं आदि धर्मावलंबी आदिवासी और ईसाई आदिवासी में व्याप्त अंतरविरोधों के कारण एकबारगी तो ऐसा लगने लगा था कि 'अखड़ा' बन पाएगा। बन गया तो बच नहीं पाएगा। पढ़े-लिखे व नौकरीपेशा आदिवासी बहुत समर्थन नहीं दे रहे थे। अंग्रेजी, हिंदी, बांग्ला, ओड़िया, असमी भाषा माध्यम में शिक्षित और ऊंची-ऊंची नौकरियों में पहुंचे झारखंडियों के लिए उनकी मातृभाषाओं का कोई मोल नहीं था। झारखंड में विभिन्न सामाजिक मुद्दों पर कार्यरत एनजीओ के एजेंडे में तो खैर झारखंडी भाषाओं के लिए कोई जगह ही नहीं थी। हमें अक्सर यह सुनना पड़ता था कि 'आपलोग क्या भाषा-वासा कर रहे हैं'।

पर हम डटे रहे। क्योंकि हमें विश्वास था कि भाषा ही हमारी पहचान, अस्मिता, संस्कृति और इतिहास को बचाने वाली प्रमुख कड़ी है। यह हमारी सांस्कृतिक एकता का भी सबसे प्रमुख और केन्द्रीय तत्व है। कोई भी भाषा सिर्फ गीत-संगीत और वाचिक अभिव्यक्ति भर नहीं होती बल्कि उसमें एक पूरी परंपरा, संस्कृति और जीवनमूल्य समाहित होते हैं। झारखंड आंदोलन का प्राण रही हैं हमारी मातृभाषाएं। इतिहास बताता है कि जैसे-जैसे हमारी मातृभाषाओं के प्रति समाज का रूझान कम हुआ है, आंदोलन कमजोर हुआ है, दलाल प्रवृतियां बढ़ी हैं और समूचा संघर्ष बिखराव का शिकार हुआ है।

इसलिए 30 अगस्त का दिन झारखंडी इतिहास में एक और महत्वपूर्ण तारीख बन गया है। जिसे हमने सामूहिक संघर्ष से लिखा है। सरकार को झुकते हुए सम्मान देना ही पड़ा है झारखंडी भाषाओं को।

सरकार द्वारा झारखंडी भाषाओं को द्वितीय राजभाषा का दर्जा दे देने के बाद अब नई चुनौतियां सामने हैं। इन चुनौतियों के लिए भी हमें संघर्ष में जाना होगा। भाषा की भूमिका जल, जंगल और जमीन पर पूर्ण स्वामित्व के अधिकार बहाली के बाद भी संघर्षशील बनी रहेगी। हमें राजभाषा का अधिकार प्राप्त करने के लिए और उसे जमीन पर उतारने के लिए अभी बहुत कुछ रचना-गढ़ना शेष है।

का चित्र पीठ पर बच्चा बांधे लक्ष्मीबाई की पुरुषप्रिय स्त्री छवि को ही स्थापित करने के पीछे किस तरह की राजनीतिक मंशा काम करती है? यह लैंगिक भेदभाव और वर्चस्व समाज और राजनीति में है तो फिर साहित्य और अभिव्यक्ति की सबसे प्राथमिक उपकरण 'भाषा' इससे भला कैसे मुक्त रह सकती है। लिंग, जाति और वर्ग आधारित संरचना वाले समाज की भाषा निरपेक्ष नहीं होती। प्रमुख भारतीय और अंग्रेजी भाषाएं इन्हीं मूल्यों की वाहक हैं और इसीलिए जब भी स्त्री, दलित, आदिवासी विषय पर बात होती है, स्वभावतः उनकी चर्चा हिंदू और ईसाई धार्मिक कथाओं, मिथकों व ऐतिहासिक गाथाओं के साथ आरंभ की जाती है। क्योंकि लिखित समाज और उनके विश्वविद्यालयों ने यह मान लिया है कि उनके पास ही दुनिया की श्रेष्ठतम भाषाएं, ज्ञान और साहित्य का विपुल भंडार है। इसके बाहर जो कुछ है, वह अद्भुत है, अनोखा है, रहस्मयी है, फोक है, आदिम है। स्त्री एवं आदिवासी-दलित समाज के संदर्भ में यह धारणा 'वर्चस्व की राजनीति' के तौर पर अपने सबसे क्रूरतम और अमानवीय रूप में हमारे सामने आती है। मुख्यधारा की भाषाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन बताता है कि हिंदी एवं अंग्रेजी जैसी भाषाओं का चरित्र किस कदर स्त्री एवं दलित-आदिवासी विरोधी है।

एक सृजनात्मक औजार और विध्वंसात्मक हथियार के रूप में भाषा की भूमिका से हम सभी परिचित हैं। भाषा न सिर्फ एक सामाजिक उत्पादन है बल्कि यह संपत्ति के उत्पादन, विनिमय और वितरण से भी पूरी तरह संबद्ध है। 'यह धारणा मार्क्सवाद के जन्म के पहले ही मान्यता प्राप्त कर चुकी थी कि भाषा एक सामाजिक परिघटना है जो मानव कार्य-कलाप के समन्वय का साधन है। ऐतिहासिक भौतिकवाद ने भाषा-वैज्ञानिक चिंतन को आगे बढ़ाते हुए उपरोक्त धारणा में यह बात जोड़ी कि भाषा सामाजिक उत्पादन के विकास के दौरान जन्म लेती है तथा उत्पादन संबंधों के कुल योग के आधार पर जीवन की जो आम सामाजिक-बौद्धिक-राजनीतिक प्रक्रिया गतिमान होती है, उसका माध्यम बनने के साथ ही, उसके दौरान, उसके साथ-साथ, सतत् विकसित भी होती रहती है।' [2] हर भाषा उस समुदाय की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवहार को अभिव्यक्त करती है, जिसे वह बोलता है। सामाजिक विकास की लंबी यात्रा में भाषाएं अनुभव, ज्ञान, कला-कौशल और भौतिक जीवन के संकेतों को समेटते हुए एक ऐसा स्मृतिकोष बन जाती

ऐसा नहीं है कि आदिवासी अंग्रेजी नहीं जानते। जानते हैं और बहुत बढ़िया जानते हैं। सरकारी एवं गैर-सरकारी सेवाओं के क्षेत्र में वैसे आदिवासियों की उल्लेखनीय संख्या है जो धड़ल्ले से अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं। फिर भी अधिकांश आदिवासी जनता का अंग्रेजी ही नहीं वरन् हिंदी से भी बहुत बेहतर परिचय नहीं है। औपनिवेशिक समय में अंग्रेजी और स्वतंत्रता के बाद हिंदी, इन दोनों ही भाषाओं का रिश्ता आदिवासी समाज के साथ सम्मानजनक और न्यायपूर्ण नहीं रहा है। इन भाषाओं के जरिए एक ऐसी राजनीति और संस्कृति हम पर हमलावर रही है जिसके चलते आज देश की 198 भाषाएं [1], जिनमें से अधिकांश आदिवासी भाषाएं हैं, खत्म हो जाने के कगार पर पहुंच गई हैं। इनमें से 7 हमारे झारखंड की आदिवासी भाषाएं हैं - हो, खड़िया, कुड़ुख, मुंडारी, मलतो, बिरहोर और असुर। यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारतीय संविधान जहां आदिवासी अस्मिता, स्वशासन, रीति-रिवाज, भाषा-संस्कृति की रक्षा के लिए संकल्पबद्ध है, वहीं हमारे राज्य और देश नहीं। इसी उत्तर औपनिवेशिक रवैये के कारण आज देश की आदिवासी राष्ट्रीयताएं सबसे गहरे संकट से गुजर रही हैं।

स्त्रियों पर अध्ययन करते हुए अक्सर अध्येता लोग काली, सीता, द्रौपदी, दुर्गा आदि से बात शुरू करते हैं। जैसे भाषा, साहित्य, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, परंपरा और समाज पर विमर्श की शुरुआत वेद और पुराण कथाओं के उल्लेख से होती है। हम यह भी जानते हैं कि साहित्य के मानदंड अब भी संस्कृत की रचनाएं और उनके टीका ग्रंथ ही हैं जबकि समस्त कलाओं को शास्त्रीय कला की कसौटियों पर परखे जाने का रिवाज बदस्तूर जारी है। इस आग्रही दृष्टि के साथ जब कोई दुनिया दूसरी दुनिया के बारे में लिखती है, जिसके साथ उसकी संगति बिल्कुल नई है, अंतरंग नहीं है, भूलें होना स्वाभाविक है। परंतु जब आप भूलों को लगातार दोहराते हैं, सायास या अनायास, तब उसकी पड़ताल-परख जरूरी हो जाती है। फिर यह सवाल सहज ही उठने लगता है कि बात सूर्पनखा, अहल्या, सिनगी दई, फूलो-झानो, माकी मुंडा से क्यों नहीं शुरू होती? क्यों मातृसत्तात्मक समाज की स्वाभिमानी आदिवासी स्त्री शकुंतला का पाठ महज एक विरहिणी प्रेमिका के रूप में किया जाता है? भरत अथवा भारत की अधिष्ठात्री नायिका के तौर पर उसकी ऐतिहासिक भूमिका स्वीकारने से हिचक क्यों है? या फिर 'खूब लड़ी मर्दानी'

'आदिवासी समाज के बारे में लिखना सबके लिए मुमकिन नहीं, क्योंकि वह ऐसा खास समाज है जो ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से हमारी वर्तमान अवस्था से बहुत अलग मंजिल पर है। उसके सामने खड़े सवाल, उनका धर्म, संस्कृति, उनकी भाषा और जीवन निर्वाह की परिस्थितियां -- सभी कुछ हमारे समाज से बहुत अलग और अनजानी हैं।' [5] यह टिप्पणी डॉ. तलवार ने 1999 में की थी और तब तक हिंदी साहित्य में आदिवासी जीवन और समाज पर बहुत ही न्यूनतम लिखा गया था। तब से लेकर अभी-अभी गुजरे 2011 के बीच यद्यपि और भी रचनाएं आ चुकी हैं, तीन-चार पत्रिकाएं आदिवासी विशेषांक छाप चुकी हैं, फिर भी दृष्टि का सवाल अब भी मौजूं बना हुआ है।

आदिवासी विषय पर लेखन और दृष्टि का सवाल गैर-आदिवासी लेखकों के साथ-साथ आदिवासी लेखकों पर भी समान रूप से लागू होता है। जब हम देखते हैं कि वे उन्हीं के साहित्यिक-सांस्कृतिक उपकरणों व शब्दावलियों के जरिये, जो बाहरी यानी मुख्यधारा की दृष्टि से संपृक्त हैं, लेखन कर रहे हैं। मुख्यतया वैसे आदिवासी लेखक जो भाषा-संस्कृति की सामाजिक-राजनीतिक भूमिका को लेकर सचेत नहीं होते हैं, 'बाहरी' (हिंदी या अंग्रेजी) भाषा में शिक्षित हुए हैं, वे उन्हीं मूल्यों के सहारे खुद को अभिव्यक्त करते हैं जो उनका नहीं है। केन्याई लेखक न्गूगी वा थ्योंगो आदिवासी समाज पर सत्ता यानी बाहरी संस्कृति के इस प्रभाव को सटीक ढंग से सूत्रबद्ध करते हैं, 'हममें से जो लोग स्कूली शिक्षा प्राप्त किए हुए हैं, वे हमारी जनता और संस्कृति के प्रति नफरत और हमारे दैनिक अपमान एवं दंड की भाषा के मूल्यों के प्रति हिकारत के साथ ग्रेजुएट बनने के लिए अभिशप्त हैं।' [6] और यह अभिशप्तता क्या है जिससे हमारे आदिवासी लेखक ग्रसित हो जाते हैं। तो यहां अभिशप्तता का अर्थ है उस बाहरी दृष्टि अथवा मूल्यों से ग्रसित हो जाना, उसे आत्मसात कर लेना जिसके कारण आदिवासी जीवन और दृष्टि आज संकट में है।

जब हम आज के आधुनिक आदिवासी शिष्ट साहित्य के साथ-साथ पुरखौती अर्थात् अलिखित साहित्य पर नजर डालते हैं तो यह अभिशप्तता और आसानी से समझ में आती है। झारखंड आंदोलन की अग्रणी विदूषी आदिवासी लेखिका डॉ. रोज केरकेट्टा इस संदर्भ में लिखती हैं, 'आदिवासी शिष्ट साहित्य में स्त्री श्रम, सहिष्णु, ममत्व से पूर्ण तो मिलती है, लेकिन अपने

हैं, जिसकी सुदृढ़ नींव पर हमारे आचार-विचार, मूल्य-दर्शन और ऐतिहासिक चेतना का निर्माण होता है। अर्थात् भाषा समुदाय के जीवन मूल्यों का सबसे सटीक और आवरणरहित प्रतिबिंबन है। 'भाषा समाज के सभी वर्गों के प्रति तटस्थ होती है, लेकिन विभिन्न सामाजिक वर्ग भाषा के प्रति तटस्थ रुख नहीं अपनाते। वे भाषा का अपने हक में इस्तेमाल करने के उद्देश्य से अपनी विशेष शब्दावली और अभिव्यक्तियां आरोपित करते हैं।' [3] जैसे, दुनिया की किसी आदिवासी भाषा में 'गाली' अथवा इंसानी गरिमा को कमतर करने वाला एक भी शब्द मौजूद नहीं है। जबकि गैर-आदिवासी भाषाओं के शब्दकोषों में गालियों की भरमार है। आदिवासी भाषाओं में 'चोरी', 'बेईमान', 'लूट' जैसे शब्द भी नहीं हैं। ध्यान देने वाली बात यह भी है कि गैर-आदिवासी भाषाओं में जितनी गालियां हैं, उनमें से नब्बे फीसदी सीधे-सीधे स्त्रियों की गरिमा का हनन करने वाली हैं। जिन्हें विकसित भाषाएं कहा जाता है, उन भाषाओं में ऐसे शब्द भरे पड़े हैं जिनसे यह पता चलता है कि उन भाषाओं को बोलने वालों का स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों और अन्य दमित-वंचित समुदायों के प्रति कैसा नजरिया है। भारत की सामाजिक और सत्ता संरचना में यह भेदभावपूर्ण नजरिया किसी से छुपा हुआ नहीं है। ऐसे में जब कोई गैर-आदिवासी लेखक आदिवासी समाज पर लिखता है तो वह उन्हीं गैर-आदिवासी भाषिक शब्दावलियों का सहारा लेता है, जिसमें कि वह शिक्षित एवं विकसित हुआ होता है। शायद इसीलिए वरिष्ठ कवि एवं आलोचक विद्याभूषण सवाल करते हैं, 'मानवशास्त्री रॉबर्ट रेडफिल्ड संस्कृति के संबंध में जिसे 'ग्रेट ट्रेडिशन' कहते हैं और जिसे नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में शास्त्र और पुरखौती जैसे शब्दों को प्रस्तुत किया है, अब तक उसके अध्ययन के कई सिद्धांत विकसित हो गये हैं, तो भी जनजातीय संस्कृति के लिए ऐसे विभाजन या मानक पर्याप्त नहीं लगते। चूंकि साहित्य अपनी कथ्यवस्तु का रूपांकन व्यापक मानवीयता की दृष्टि से करता है और समाजविज्ञानी वस्तुनिष्ठता उसके ट्रीटमेंट में नहीं निभ पाती, इसलिए अधिक प्रासंगिक प्रश्न यह है कि जनजातीय जीवन को आंकने की लेखकीय समाज-दृष्टि क्या हो?' [4] ठीक यही सवाल श्रीप्रकाश मिश्र के आदिवासी उपन्यास 'जहां बांस फूलते हैं' की आलोचना में झारखंड आंदोलन से जुड़े रहे प्रखर बुद्धिजीवी और जेएनयू के प्राध्यापक डॉ. वीर भारत तलवार उठाते हैं,

उसकी रचना किस जीवन मूल्य का पक्ष लेगी। इस संदर्भ में आदिवासी समाज पर गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा लिखे गए समकालीन हिंदी उपन्यासों की पड़ताल करती हुई रोहिणी अग्रवाल की यह टिप्पणी गौर करने लायक है, 'बेशक सृजन के समय रचनाकार सृष्टा होता है, लेकिन उसके सृष्टा के भीतर बैठा बोध उसके वर्ग, धर्म, लिंग और वय से निर्देशित-प्रभावित होता हुआ उसे जो दृष्टि और संवेदना देता है, वही उसके लेखकीय व्यक्तित्व का सृजन करता है और रचना में प्रतिफलित होता है।' [10] इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि मैं गैर-आदिवासी भाषाओं में आदिवासी जीवन पर हुए सभी लेखन को खारिज कर रही हूं, पर मेरा जोर उन दो विश्वदृष्टियों के अंतर्विरोधों पर जरूर है जिस पर भारत के विराट साहित्यिक जगत में फिलहाल चुप्पी छायी हुई है। स्त्री और दलित साहित्य ने जरूर इस अंतर्विरोध को उजागर करने में महती भूमिका निभायी और मुख्यधारा के साहित्य में मौजूद समुदाय विशेष के इंसानी गरिमा के अपहरण को सृजनात्मक ढंग से रेखांकित किया। परंतु जहां तक विभिन्न समर्थ भारतीय भाषाओं के साहित्य में आदिवासी उपस्थिति का प्रश्न है, वह कोई न्यायपूर्ण तस्वीर पेश नहीं करता। इसलिए यह अस्वाभाविक नहीं है कि हिदी साहित्य में आदिवासी विषय पर लिखते हुए 'पात्रों को साफ-साफ तीन कोटियों में रखा गया है। आदिवासी 'बेचारे' हैं - शोषित और उत्पीड़ित - लेखकीय सहानुभूति के पात्र; नैरेटर मसीहा है जो अपने आदर्शवाद, सिद्धांतवादिता और 'अव्यावहारिकता' के चलते सभ्य समाज की आंख का कांटा है। लेखक की सारी शुभेच्छाएं और संवेदनाएं इसके साथ हैं क्योंकि वह लेखक के अहं का ही विस्तार है।' [11] विशेषकर, आदिवासी स्त्रियों के संदर्भ में तो इस तरह का लेखन और भी क्रूर दिखाई पड़ता है। जब हम साहित्य में आदिवासी स्त्रियों को सिर्फ स्वच्छंद यौन की वस्तु के रूप में और अपना बलात्कार करवाते ही देखते हैं। लुटी-पिटी, नुची और क्षत-विक्षत। झारखंड आंदोलन की बौद्धिक अगुवाई करने वाले डॉ. वीपी केशरी आहत हो कर कहते हैं, 'लोगों ने रोमांटिक होकर और गिद्ध दृष्टि से आदिवासियों पर ज्यादा लिखा है। अनेक बाहरी लेखकों ने तो हमारा अहित करने वालों को उद्धारक और हमारे नायकों को अपराधी चित्रित किया है। उनका लेखन हमारी औरतों के बलात्कार के बिना उत्कृष्ट और कलात्मक नहीं होता।' [12]

मैं साहित्य की विद्यार्थी नहीं रही हूं इसलिए उदाहरण दे पाने में

लिए और परिवार के लिए निर्णय लेती हुई कम मिलती है। वह जीने के लिए कठिन परिश्रम करती, देस-परदेस जाती है, सेवा करती है स्वयं को नहीं, दूसरों को प्रसन्न रखने के लिए।' [7] 'दूसरों को प्रसन्न रखने' की सामंती स्त्री प्रवृत्ति आदिवासी समाज में नहीं है। यह उस बाहरी भाषा और संस्कृतिकरण के जरिए आया है जिसे विकास और मुख्यधारा के नाम पर आदिवासियों पर लाद दिया गया। क्योंकि यही आदिवासी स्त्री आदिवासी पुरखौती कथाओं में दूसरों को प्रसन्न रखने की बजाय बराबरी की बात करती हुई दिखती है। डॉ. केरकेट्टा हमें बताती हैं, 'जब आदिवासी समाज में गोत्र का बंटवारा हुआ, तब परिवार की अवधारणा बन चुकी थी और परिवार में स्त्री पत्नी होने के साथ-साथ सहयोगिनी भी होती थी। वह अपने विचार पारिवारिक मामलों में व्यक्त कर सकती थी। जैसे एक कथा में पति-पत्नी मिलकर तीन रोटियां बनाते हैं। पति दो खाना चाहता है, जिसके लिए तर्क देता है कि उसने चावल लाया है। यह कठिन काम था, जिसे उसने किया। स्त्री भी कहती है कि वह दो रोटी खाने की हकदार है, क्योकि उसने लकड़ी ढूंढ़ा, चावल पीसा और रोटी पकायी। काम उसने अधिक किए। याने काम के आधार पर उसे बराबरी का हक मिलना चाहिए।' [8] आदिवासी पुरखौती कथाओं में स्त्री विमर्श का उल्लेख करते हुए डॉ. सुश्री शरद सिंह भी इसी मंतव्य की पुष्टि करती हैं। वे कहती हैं, 'आदिवासी पुरखौती कथाओं में स्त्री की सहज प्रकृति को वर्णित किया गया है। पुरुषवादी समाज में स्त्री से उनके उन गुणों की अपेक्षा की जाती है जिसमें वह पुरुष के प्रति समर्पित, स्वविवेक को भूल कर आज्ञा मानने वाली, स्वनिर्णय क्षमता रहित तथा पूर्णतया पुरुष पर निर्भर रहे। ... इन कथाओं में स्त्री का पुरुष के प्रति प्रेम, समर्पण तथा निष्ठा तो है किन्तु साथ ही यह स्त्री इच्छित पति चुन सकती है, किसी भी आयु, किसी भी अवस्था में विषम परिस्थितियों का डट कर सामना कर सकती हैं, अपने बुद्धिकौशल से पुरुषों को भी संकट से बचा सकती है, उसमें अपने अधिकारों के लिए लड़ने की क्षमता है, वह स्त्रीजाति के अस्तित्व के प्रति सजग है अर्थात् इन कथाओं की स्त्री एक पूर्ण मनुष्य की भांति पूर्ण स्त्री है।' [9]

दोहराने की आवश्यकता नहीं कि भाषा एक खास समुदाय के जीवनानुभवों और दर्शन की वाहक होती है। इसलिए जब कोई लेखक लिखने के लिए भाषा का चुनाव करता है, उसी वक्त यह निर्धारित हो जाता है कि

आज देश का पूरा आदिवासी समाज ग्लोबल लूट के पहले निशाने पर है। देश के आदिवासी इलाके अंतहीन उत्पीड़न और जुझारू संघर्ष के प्रमुख केन्द्र बन गये हैं और भारतीय राष्ट्र जिन्हें देश की 'आंतरिक सुरक्षा के लिए खतरा' घोषित कर चुका है। औपनिवेशिक समय से शुरू हुई दोहन-लूट एवं शोषण की इस अंतहीन प्रक्रिया को दर्ज करने की बजाय साहित्य ने सिर्फ आदिवासी स्त्रियों की बलात्कारी स्थिति को ही फोकस किया है। सही है कि आदिवासी स्त्रियां बलात्कार झेलती हैं पर यही एकमात्र आदिवासी स्त्री सच नहीं है। वे लड़ रही हैं, अपने समाज के भीतर मौजूद अंधविश्वासों, कुरीतियों से, बाहरी शोषण-उत्पीड़न से। परंपरागत और आधुनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में सृजनशीलता के साथ सक्रिय हैं। सिनगी दई और कैली दई ने मुगलों से युद्ध का नेतृत्व किया, फूलो-झानो ने इतिहासप्रसिद्ध संताल हूल (विद्रोह) में महिलाओं की अगुवाई की, तो माकी मुण्डा और अन्य आदिवासी स्त्रियों ने उलगुलान (बिरसा मुण्डा के नेतृत्व में हुआ ब्रिटिश विरोधी आंदोलन) में मोर्चा सम्हाला। 1999 में पोलटेकनिक करने वाली आदिवासी महिला दीपाली अमृत खलखो आज ट्रेन चला रही है। पुरुषों के लिए सुरक्षित माने जाने वाली भारतीय सेना में पहली बार शामिल होनेवाली देश की पहली महिला जवान एक आदिवासी स्त्री है। दो बच्चों की मां शांति तिग्गा ने 13 लाख रक्षा बलों में पहली महिला जवान बनने का अनोखा गौरव हासिल किया है। भारतीय महिला हॉकी की कप्तानी वर्षों तक झारखंड की सुमराय टेटे ने संभाला तो अब कमान वहीं की असुंता लकड़ा के हाथों में है। दुनिया के सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो आदिवासी स्त्रियों के सघर्ष, सृजन और सफलता की नई कहानियां बयान कर रहे हैं। पर ये साहित्य और अभिव्यक्ति के कथ्य नहीं बनते। आदिवासी समाज पर लिखने वाले लेखकों, मानवशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों व इतिहासकारों ने आदिवासी विद्रोहों की कड़ी में विद्रोही महिलाओं मसलन सिनगी दई, कैली दई, देवमनी और माकी जैसी स्त्री विद्रोही चरित्रों की चर्चा तक नहीं की है। इस भेदभावपूर्ण अनदेखी के बाद भी संघर्षरत और सृजनशील आदिवासी स्त्रियां आदिवासी पुरखौतीगीतों और पुरखौतीकथाओं में इतिहास को चुनौती देती समूची ओजस्विता के साथ मौजूद हैं।

विजय तेंदुलकर के नाटक 'कमला' और 1985 में उस पर बनी फिल्म में आदिवासी कमला बेची जाती है, तो 'मृगया' (मृणाल सेन, 1976),

असमर्थ हूं। पर भाषा के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक व्यवहार के बीच गुजरते हुए अपने सचेत और सक्रिय जीवन के अनुभवों के आधार पर और जो थोड़ा-बहुत साहित्य पढ़ पायी हूं, उसके आधार पर, साथ ही 'मृगया', 'कमला', 'आक्रोश' और 'लाल सलाम' जैसी फिल्मों के आधार पर विश्वासपूर्वक कह सकती हूं कि प्रिंट और विजुअल सभी माध्यमों में आदिवासी स्त्रियों का चित्रण गरिमारहित ही हुआ है। जैसा कि नाइजीरियाई उपन्यासकार चिमामांडा अडीची भी कहती हैं, 'मेरी अमेरिकी रूम-मेट के पास अफ्रीका की एक ही कहानी थी। केवल घोर दुर्गति की कहानी। इस अकेली कहानी में कोई संभावना नहीं थी कि उसमें अफ्रीकावासी कुछ मायनों में उस जैसे लगें। उसमें दयाभाव से इतर अनुभूति की कोई संभावना नहीं थी। सभी इंसानों के समान होने के संबंध की संभावना उसमें नहीं थी।' [13] यही वजह है कि भारतीय साहित्य में आदिवासी महिलाएं परदेसी के प्रेम में देह सौंपती, दाई, आया, सेविका आदि के रूप में मार खाती, बलात्कार भोगती हुई ही दिखाई देती हैं। अस्मिता, स्वशासन और आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए संघर्ष करती हुई आदिवासी स्त्रियां साहित्य और फिल्मों में एकसिरे से गायब हैं।

मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि चाहे एंथ्रोपोलोजिकल स्टडी हो, सोशियोलॉजिकल स्टडी हो या फिर साहित्यिक सृजन, सभी विषयों एवं विधाओं में आदिवासी स्त्रियों को लेकर 'घोटुल' दृष्टि और उत्सुकता ही प्रमुख रही है। यह लगभग स्थापित कर दिया जा चुका है कि आदिवासी स्त्रियां हर वक्त, हर किसी के साथ सहवास के लिए तत्पर रहती हैं क्योंकि उनका समाज यौन वर्जना से मुक्त समाज है। घोटुल को लेकर गढ़ी गयी यौन क्रियाओं की कल्पनाओं के अनुसार ही बाहरी समाज आदिवासियों और आदिवासी स्त्रियों के बारे में सोचना शुरू करता है। जबकि गोंड आदिवासियों का घोटुल, मुंडाओं का गितिओड़ा या उरांव आदिवासियों की धुमकुड़िया आदिवासी जन शिक्षण के केन्द्र रहे हैं और इन वाचिक आदिवासी विश्वविद्यालयों में सिर्फ यौन क्रियाएं नहीं होतीं। इन पारंपरिक शिक्षण केन्द्रों में जीवन के सभी आयामों को पुरानी पीढ़ी द्वारा नई पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता है। लेकिन सभ्य, विकसित और लिखित समाज घोटुल की स्वनिर्मित कल्पना से बाहर आ कर उस सच्चाई से साक्षात्कार नहीं करना चाहता है जिसके कारण

ध्यान रख रहे हैं या नहीं, यह सवाल अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। यह भी देखना होगा कि आप किन जीवनमूल्यों के साथ उन्हें प्रस्तुत कर रहे हैं, क्योंकि शेष दुनिया उन्हें उसी रूप में जानेगी, जिस रूप में आप उन्हें उद्घाटित रहे हैं।

लेखकों को समझना होगा कि भारत के हिन्दू समाज की अपेक्षा आदिवासी समाज में महिलाओं की स्थिति भिन्न है। यह भिन्नता सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक लगभग सभी स्तरों पर देखी जा सकती है। इसके बावजूद आदिवासी महिलाएं वैसी ही हैं जैसी कि अन्य भारतीय महिलाएं। विशेषकर आज के समय में। आदिवासी समाज के परंपरागत ढांचे में जो स्थान महिलाओं के लिए सुनिश्चित था, अब उसमें तेजी से बदलाव आया है। खनिज बहुल और प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर आदिवासी इलाके और वहां की महिलाएं शुरू से ही उपेक्षा और शोषण का शिकार रही हैं। जैसे-जैसे यहां का समाज अपनी आजीविका के परंपरागत स्रोतों से बेदखल हुआ है, उसी क्रम में महिलाओं की स्थिति लगातार खराब होती चली गई है। विस्थापन, पलायन और औद्योगिकरण की सबसे ज्यादा मार आदिवासी महिलाओं को ही झेलनी पड़ी है। खदान क्षेत्रों और औद्योगिक शहरों के विकास के साथ ही आदिवासी महिलाएं पहले से कहीं ज्यादा असुरक्षित हुई हैं। इन जगहों पर चाहे वह आदिवासी समाज की महिला हो या गैर-आदिवासी समाज की, दिहाड़ी मजदूर 'रेजा' हो या फिर किसी सरकारी अथवा गैर-सरकारी विभाग में कार्यरत मध्यवर्गीय महिला, दोनों ही समान रूप से उत्पीड़ित हैं। शिक्षा, साहित्य और राजनीति में महिलाओं की उपस्थिति-अनुपस्थिति से इस बदलाव को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

दृष्टिकोण का सवाल सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि उसी से तय होता है कि आप किसी को भी किस तरह से देखेंगे, उसे व्याख्यायित करेंगे। भारतीय शिक्षा प्रणाली और राजनीतिक वर्चस्व को बनाए रखने के लिए हुए 'संस्कृतिकरण' के कारण अब आदिवासी समाज को बाहरी और भीतरी दोनों ही स्तरों पर जूझना पड़ रहा है। 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' का शिकार बन चुके आदिवासियों का एक उल्लेखनीय हिस्सा बाहरी अथवा सत्ता विचारों और जीवनमूल्यों की चपेट में है।

इस आरोपित या अदृश्य सांस्कृतिक हमले के प्रभाव के बारे में

'आक्रोश' (गोविंद निहलानी, 1980) और 'लाल सलाम' (गगनबिहारी बारोट, 2002) की कथा आदिवासी स्त्री के बलात्कार पर केन्द्रित है। 'आक्रोश' में 'इज्जत' के लिए ओम पुरी अपनी बहन की हत्या कर देता है तो 'लाल सलाम' में अपने बलात्कार (इज्जत) का बदला लेने के लिए नंदिता दास नक्सलवादी बन जाती है। [14] इन फिल्मों में 'इज्जत' की जिस अवधारणा के साथ आदिवासी समाज को वर्णित किया गया है, वह आदिवासी समाज की अवधारणा बिल्कुल नहीं है। आदिवासी समाज में स्त्रियां सिर्फ इज्जत की वस्तु नहीं हैं बल्कि वे पुरुषों की तरह ही संपूर्ण इंसान हैं। इसलिए इज्जत को लेकर उनकी अवधारणा पितृसत्तात्मक समाज से बिल्कुल भिन्न है। हमारे लिए बलात्कार इंसानी गरिमा के साथ किये जाने वाले दूसरे बर्बर व्यवहारों की तरह ही एक क्रूर और अमानवीय व्यवहार है। इसी तरह का अप्रोच हम साहित्य में भी पाते हैं। चाहे वह कहानी हो या उपन्यास।

ादिवासी जीवन पर लिखी गई कहानियों और उपन्यास से चर्चा में आए रणेन्द्र की एक कहानी है 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियां'। 'मैं' शैली में लिखी गई इस कहानी में बांध विरोधी संघर्ष की कथा है जिसकी नायिका एक आदिवासी युवती है। कहानी में 'मैं' यानी कि लेखक स्वयं एक आदिवासी समर्थक ब्यूरोक्रेट के प्रमुख चरित्र के रूप में उपस्थित है और वही कथा सुनाता है। इस ब्यूरोक्रेट को वह आदिवासी नायिका अपना देह सौंपती है और कहानी का अंत नायिका द्वारा ब्यूरोक्रेट के चेहरे पर उसके थूकने से होता है। यह कहानी जब छपी तो उसे वर्ष का सर्वश्रेष्ठ कथा के रूप में पुरस्कृत किया गया। ध्यान देने वाली बात है कि इस कथा की आदिवासी नायिका अंत होते-होते एक लाचार, बेबस, निरीह और निस्तेज स्त्री बन कर रह जाती है। ब्यूरोक्रेट के चेहरे पर वह घृणा से थूकती है तो साहित्यिक जगत इसे एक क्रांतिकारी अंत के रूप में स्वीकार करता है। जबकि थूकना या अपमानित करना आदिवासी जीवनमूल्य नहीं है। आप संपूर्ण आदिवासी पुरखौतीसाहित्य पढ़ जाइए 'मान-अपमान' जैसे सामाजिक कृत्य का एक भी दृष्टांत नहीं मिलेगा। इंसानी गरिमा को क्षति पहुंचाने वाली 'घृणा' और 'अपमान' जैसी अनुभूतियां आदिवासी जीवन में है ही नहीं। आधुनिक समय और समाज में अब ये जरूर शामिल हो रहे हैं, परंतु जब आप आदिवासी समाज पर लिखते हैं तो उनकी मूल सामाजिक प्रवृतियों और जीवनमूल्यों का

इसका दायरा और बढ़ाएं तो वृहत झारखंड यानी झारखण्ड, पश्चिम बंगाल, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा में चर्चित एवं सक्रिय झारखंडी महिला रचनाकारों की संख्या दस तक भी नहीं पहुंचेगी। ऐसा क्यों? जबकि वाचिक रहे आदिवासी समाज में पुरखौती साहित्य को पीढ़ियों तक महिलाएं ही सहेजती रही हैं। आज भी उनके पास ही सबसे ज्यादा परंपरागत गीत हैं। पुरुष इस मामले में उनका मुकाबला नहीं कर सकते। लेकिन जब लिखित साहित्य की बात आती है तो महिलाएं दिखती ही नहीं। वे एकदम से गायब हो जाती हैं। इसका एक अर्थ तो यह है कि वे शिक्षा से वंचित हैं इसलिए लिख नहीं सकतीं। दूसरा यह कि वे लिख-पढ़ रही हैं, पर छपने-छपाने की जो प्रक्रिया है, वह पुरुषों के अनुकूल है और उनके कब्जे में है। यह ट्रेंड भी आदिवासी समाज के विपरीत है। इसका जवाब यह नहीं हो सकता कि महिलाएं लिख ही नहीं रही हैं या उनमें रचनाकार होने की संभावनाएं नहीं हैं। यह शुद्ध रूप से महिलाओं को बराबरी का अवसर देने का सवाल है।

राजनीति में भी आदिवासी महिलाओं की स्थिति भेदभाव वाली ही है। आदिवासी महासभा से ले कर आज के आदिवासी छात्र संघ या फिर जनाधिकार पार्टी तक समान स्थिति है। अर्थात् महिलाएं राजनीति में हैं ही नहीं। मुश्किल से दो-चार नाम मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि महिलाएं राजनीति नहीं कर रही हैं। झारखंड आंदोलन के ढाई सौ सालों का इतिहास बताता है कि वे हमेशा लड़ाई की अग्रिम पंक्ति में मौजूद रही हैं, पर उनके नेतृत्व की चर्चा कोई नहीं करता। हमेशा उनके नेतृत्व, प्रतिभा और श्रम की अनदेखी की गई। यह रवैया पिछले 100 सालों के दौरान तेजी से बढ़ा है और यह कहीं से भी आदिवासी रवैया नहीं है।

महिलाओं के पिछड़ने या फिर उनके विकास में बाधा बनने की सामाजिक प्रवृति धीरे-धीरे बढ़ रही है। हिन्दू संस्कृति का बढ़ता प्रभाव तथा बाहरी संस्कृति के नकल की अंधी होड़ ने इस प्रवृति को पहले से ज्यादा मारक बना दिया है। आदिवासी जीवनदर्शन में समानता का जो मूल तत्व है वह धीरे- धीरे गायब हो रहा है। इसके सामाजिक परिणाम महिलाओं के साथ बदलते व्यवहार में आसानी से देखा जा सकता है।

स्पष्ट है कि साहित्य में आदिवासी स्त्रियों की उपस्थिति या उनके चित्रण का सवाल सीधे-सीधे वर्गीय और लिंगगत दृष्टि से जुड़ा हुआ है। यह

चिमामांडा अडीची लिखती हैं, 'मैं वैसी ही कहानियां लिख रही थी जैसी मैं पढ़ रही थी। मेरी कहानियों के सारे चरित्र गोरे थे और उनकी आंखें नीली होती थीं। वे बर्फ़ में खेलते थे। वे सेब खाते थे। और वे मौसम के बारे में बहुत बातें करते थे, जैसे सूरज निकलने पर कितना अच्छा लग रहा होता है। (हंसी) हांलाकि, मैं प्रारंभ से ही नाइजीरिया में ही रहती आई थी, और वहां से बाहर कभी नहीं गई थी। हमने बर्फ़ कभी नहीं देखी। हम आम खाते थे। और हम मौसम के बारे में कभी बात नहीं करते थे, क्योंकि उसकी कोई जरूरत नहीं थी।' 15

जबकि न्गूगी थ्योंगो सत्ता की राजनीतिक मंशा को वर्गीय दृष्टि से विश्लेषित करते हुए कहते हैं, 'हमारे पाठ्यक्रम की विषयवस्तु, साहित्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण और उसका प्रस्तुतिकरण, पाठों के चयन और उनकी व्याख्या के लिए नियत व्यक्ति या पद्धति साम्राज्यवाद के शास्त्रीय औपनिवेशिक दौर के अभिन्न अंग रहे हैं और वे आज भी उसी साम्राज्यवाद के अभिन्न अंग हैं - फर्क बस इतना है कि यह साम्राज्यवाद का नवऔपनिवेशिक दौर है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ने औपनिवेशिक काल में देश और जनसमुदाय को अलग-अलग सीमा तक प्रभावित किया जो इस बात पर निर्भर होता था कि अलग-अलग देशों में लूटपाट करने वाली इन ताकतों की औपनिवेशिक नीतियां क्या होती थीं और अलग-अलग देशों में इनका प्रतिरोध किस हद तक होता था। यही सांस्कृतिक साम्राज्यवाद नवऔपनिवेशिक काल में भी नियंत्रण बनाए रखने का मुख्य माध्यम हैं।' 16

इस प्रवृति को आदिवासियों द्वारा रचित साहित्य में भी आसानी से चिन्हित किया जा सकता है। आदिवासी साहित्य में भी महिलाओं की उपस्थिति नहीं के बराबर है और है भी तो उसी तरह से जैसा कि गैर-आदिवासी समाज द्वारा रचित साहित्य में। इसे समझने के लिए संताली साहित्य को देखा जा सकता है। जनसंख्या की दृष्टि से संताल झारखंड का सबसे बड़ा आदिवासी समुदाय है। यह स्वाभाविक है कि संताली रचनाकारों की संख्या भी अन्य आदिवासी रचनाकारों की तुलना में अधिक होगी। आज संताली लोग गर्व से कहते हैं कि उनके साहित्यकारों की सूची दस हजार से भी लंबी है। पर यदि उनसे यह पूछा जाए कि महिला साहित्यकारों की संख्या बताइए, तो वे पांच का भी नाम नहीं गिना सकते। समूचे झारखंड में या

2. कात्यायनी/सत्यम : मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृष्ठ 9
3. वही, पृष्ठ 37
4. विद्याभूषण : आदिवासी अस्मिता और हिंदी उपन्यास, कथा क्रम, अक्तूबर-दिसंबर 2011, पृष्ठ 74
5. तलवार, डा. वीर भारत : झारखंड के आदिवासियों के बीच, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2008, पृष्ठ 449
6. थ्योंगो, न्गूगी वा : भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता (हिंदी संपादन एवं अनुवाद : आनंदस्वरूप वर्मा), सारांश, दिल्ली, 1994, पृष्ठ 39
7. केरकेट्टा, डा. रोज : आदिवासी संस्कृति और साहित्य : स्त्री का दर्जा
8. वही
9. डा. सिंह, सुश्री शरद : भारत की आदिवासी लोककथाओं में स्त्रीविमर्श, कथा क्रम, अक्तूबर-दिसंबर 2011, पृष्ठ 70
10. अग्रवाल, रोहिणी : समकालीन हिंदी उपन्यास और दिकू समाज का आदिवासी चिंतन, कथा क्रम, अक्तूबर-दिसंबर 2011, पृष्ठ 44
11. वही, पृष्ठ 35
12. पहली मई 2011 को झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा द्वारा आयोजित सेमिनार 'आदिवासी-देशज कथा-रंग' में दिये गये बीज वक्त्वय से उद्धृत
13. अडीची, चिमामांडा : अकेली कहानी के खतरे, झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, जून-अगस्त 2011, पृष्ठ 65
14. अश्विनी कुमार पंकज के अप्रकाशित आलेख से, 2010
15. अडीची, चिमामांडा : अकेली कहानी के खतरे, झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, जून-अगस्त 2011, पृष्ठ 64
16. थ्योंगो, न्गूगी वा : भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता (हिंदी संपादन एवं अनुवाद : आनंदस्वरूप वर्मा), सारांश, दिल्ली, 1994, पृष्ठ 47

महत्वपूर्ण तो है ही कि उसे आदिवासी लिख रहा है या गैर-आदिवासी, पर इससे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण सवाल यह है कि वह किस भाषा का इस्तेमाल कर रहा है। क्योंकि अगर आपकी भाषा ही स्त्री, दलित-आदिवासी विरोधी है, तो सबसे पहले आपको उस भाषा को और उसकी शब्दावलियों का स्त्रीकरण करना होगा। और यह काम विशुद्ध रूप से एक सचेत वर्गीय सामाजिक-राजनीतिक कार्रवाई के बिना संभव नहीं है। समानता, सहअस्तित्व, सहजीविता, सहभागिता और सामूहिकता के जीवनमूल्यों के साथ आदिवासी समाज पिछले ढाई सौ सालों से इस कार्रवाई में संलग्न है। धरती, प्रकृति और समाज की सुंदरता को बचाने की यह कार्रवाई बौद्धिक जमातों एवं व्यापक जनसमुदायों के सक्रिय सृजनात्मक सहयोग एवं भागीदारी से ही संभव हो पाएगा। इसके लिए जरूरत है कि वे आदिवासी विश्वदृष्टिकोण के साथ अपना अनुकूलन करें। भाषा, संस्कृति, राजनीति और समाज के सभी क्षेत्रों में। पर हम जानते हैं कि 'सभ्यता' और 'विकास' की जिस अवधारणा के साथ वे सत्ता केन्द्र बने हुए हैं, इसके लिए तैयार नहीं हैं। इस आदिवासी अनुभव को मैं अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त आदिवासी विद्वान और पद्मश्री डॉ. रामदयाल मुण्डा के निजी वक्तव्य को रखते हुए अपनी बात खत्म करूंगी।

अपने एक साक्षात्कार में डॉ. मुण्डा कहते हैं - 'जमाना कितना बदल गया, लेकिन नजरिया वही। ऊपर से चाहे वोट की राजनीति के लिए प्रेम दिखायें। लेकिन हमे इंसान से थोड़ा कम माना जाता है। मुझे अनुभव है। बहुत त्रासद अनुभव। जब विद्यार्थी था तो कमर के नीचे एक फोड़ा हो गया था। कहां जाता इलाज के लिए। यहीं रांची के सदर अस्पताल में चला गया। डाक्टर ने टेबुल पर लेट जाने के लिए कहा। घाव को चीर कर साफ करना था। कंपाउडर घबरा कर बोला- 'एनेस्थेसिया की सूई नहीं दीजियेगा सर?' डाक्टर का जवाब था - 'क्या जरूरत ... इन लोगों को दर्द नहीं होता है। बड़े सहनशील होते हैं।' उसके बाद चार लोगों ने कस कर पकड़ लिया और चीर-फाड़ करते रहे।

संदर्भ स्रोतः

1. Moseley, Christopher (ed.). 2010. Atlas of the World's Languages in Danger, 3rd edn. Paris, UNESCO Publishing

कि आदिवासी साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है। आदिवासी साहित्य विमर्श के उभार के दौर में ये तीनों ही बिंदू गैर-आदिवासी और आदिवासी, दोनों ही समाज के लेखकों, विद्वानों और अध्येताओं की समझदारी पर सवाल उठाते हैं और हम आप सबसे आदिवासी संस्कृति, जीवनदर्शन व उनके विश्वदृष्टिकोण के प्रति एक नई अंतरंग व आत्मीय दृष्टि की मांग करते हैं। क्योंकि आदिवासियों का अलिखित साहित्य लोक साहित्य नहीं है। न ही वह अनगढ़ है जिसे हमें दूसरे भाषा-समाज के औजारों से सुघड़ बनाना है। और न ही दलित साहित्य की तरह आदिवासी साहित्य प्रतिरोध यानी गुस्से एवं विद्रोह का साहित्य है।

साथियो, मैं अपनी बात इन्हीं तीन प्रमुख बिंदुओं के संदर्भ में रखूंगी। क्योंकि 'लोकप्रिय जुमलों और अवधारणाओं' के महानगर बहुत ही लुभावने होते हैं। उसकी रंगीनियां हमें वास्तविकता से दूर रखती है और उन्हें ही हम प्रगतिशील जीवन, विकास आदि का पर्याय मान लेते हैं। यह एक बहुत ही खतरनाक प्रवृति है जिसे दमनकारी शासकवर्ग और उसका साहित्य व कलाएं बहुत ही बारीकी से व सफाई से बुनती हैं। जिसके जाल में बदलाव के लिए सांस्कृतिक संघर्ष कर रही शक्तियों का हिस्सा भी अक्सर फंस जाता है और खुद को अभिव्यक्त करने के लिए वह उनके ही शब्दावलियों, मुहावरों, प्रतीकों तथा अवधारणाओं को दोहराने लगता है। मौजूदा आदिवासी साहित्य विमर्श भी कुछ इसी दिशा में है जिसे हमें पटरी पर लाने की जरूरत है।

लिखित दुनिया कई तरह के समाजों में विभक्त है और उसकी सामाजिक संरचना बहु स्तरीय है। भारत के प्रसंग में यह दोहराने की जरूरत नहीं है कि इस देश की बड़ी आबादी जिसे हिंदू, आर्य आदि नाम से जाना जाता है, मुख्यतः चार स्तरीय व्यवस्था है। फिर इन चार स्तरों में भी अनेक भेद-उपभेद हैं। मतलब जाति के अंदर जाति। यूरोपीय देशों में काले और गोरे का भेद अभी तक प्रभाव में है। स्पष्ट है, जब समाज विभाजित रहेगा तो यह विभाजन उनके आर्थिक-सांस्कृतिक सभी आयामों में भी घोषित-अघोषित तौर पर रहेगा। इसीलिए उनके यहां सिर्फ साहित्य नहीं है। वर्गों में विभाजित साहित्य है। ये दो मोटे विभाजन हैं लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य का। उनकी ही परिभाषाओं को देखें तो लोक साहित्य वह है जिसे अनपढ़, गंवार उज्जड जनता ने रचा है। जबकि शिष्ट साहित्य वह है जिसे किसी पढ़े-लिखे

व्यक्ति ने लिखा है। यह पढ़ा-लिखा व्यक्ति मुख्यतया शहरों में रहनेवाला होता है। लोक साहित्य सामूहिक रचनाएं हैं और इनके रचनाकार अज्ञात होते हैं। परंतु शिष्ट साहित्य को रचनेवाला कोई एक व्यक्ति होता है और उसकी पुख्ता पहचान होती है। एक आदिवासी होने के नाते मैं आज तक नहीं समझ पाई कि जिस रचना को गढ़ने में किसी समूह की मेधा लगती है, वह एक व्यक्ति की कलात्मक मेधा से कैसे कमतर या निकृष्ट हो जाती है? आम तौर पर जबकि लोग यही मानते हैं कि मिलजुल कर किया जानेवाला काम यानी कि 'टीम वर्क' हमेशा उत्कृष्ट होता है। तो साहित्य में कैसे टीम वर्क के द्वारा अर्थात् सामूहिक रूप से रचा गया साहित्य, जिसे वे लोक साहित्य कहते हैं, के संदर्भ में यह मान्यता उलट जाती है?

दूसरी बात इसी के संदर्भ में है। 'लोक' शब्द का सांस्कृतिक दर्शन हमारे विचार से हिंदू धर्म की अवधारणा से जुड़ा है। परलोक, त्रिलोक, नरक लोक, स्वर्ग लोक आदि हिंदू धार्मिक शब्दावलियां लोक शब्द की आधाशिला पर ही खड़ी हैं। इसलिए जब आप लोक की बात करते हैं तो प्रकारांतर से आप हिंदू धार्मिकता के दर्शन को ध्वनित कर रहे होते हैं। सही है कि आज 'लोक' इससे अलग अर्थ में बहुत हद तक रूढ़ हो गया है। परंतु यह भी सच है कि लोक परलोक, त्रिलोक आदि से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। अतः प्रकृति पूजक और बोंगा को मानने वाले आदिवासियों के साहित्य को हिंदू धर्म की शब्दावली 'लोक' में बांध कर संकीर्ण करना धार्मिक असहिष्णुता तो है ही, सांस्कृतिक अतिक्रमण भी है। अफसोस तो यह है कि हमारे आदिवासी साहित्यकार भी शब्दों की सांस्कृतिक व धार्मिक सत्ता को जाने बिना अपने साहित्य के लिए बड़े ही गर्व से 'लोक साहित्य' का विशेषण अपनाए चले जा रहे हैं।

हमें समझना होगा कि हम आदिवासी 'लोक' बिल्कुल नहीं हैं। हम जन हैं, गण हैं, विश हैं, समुदाय हैं। अपने धार्मिक विश्वासों में हम किसी देवता को नहीं मानते। प्रकृति को मानते हैं। प्रकृति की रक्षा हेतु सृष्टि के नियमों का पालन व उसकी देखरेख के लिए तैनात 'बोंगा' और अपने पुरखों को मानते हैं। हमारे धार्मिक विश्वास का मूल है 'कृतज्ञता'। मानवविज्ञानी लोग हमारे इस कृतज्ञता ज्ञापन को अपनी शब्दावली में 'पूजा' घोषित करते हैं। लेकिन ध्यान रखने की जरूरत है कि कृतज्ञता और पूजा में मौलिक भेद

है। इस भेद को वही समझ सकता है जो जानता है कि आदिवासी और उनकी संस्कृति क्या है। आपको यह भी जानना चाहिए कि हमारे बोंगा स्त्री भी हो सकते हैं और पुरुष भी। हिंदू या अन्य धर्मों की तरह आदिवासियों में 'देवी' और 'देवता' जैसा कोई लैंगिक विभाजन नहीं है। प्रकृति और बोंगा के बाद हम अपने पुरखा आत्माओं का स्मरण करते हैं। जिन लोगों की मृत्यु हो जाती है हम विश्वास करते हैं कि मर जाने के बाद भी हमारे साथ उसी तरह से रहते हैं जैसा वे जीवित समय में रहा करते थे। इसलिए यह उस तरह का आत्मावाद भी नहीं है जैसा गीता में आत्मा के बारे में लिखा गया है।

जैसे मैं अपने खड़िया आदिवासी समुदाय के धार्मिक विश्वास का उदाहरण देती हूं। हम सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता को 'पोनोमसोर' कहते हैं। मुण्डा और हो लोग जिसे 'सिंगबोंगा' कहते हैं। हिंदी और अंगरेजी के अध्येताओं ने पोनोमसोर और सिंगबोंगा को सूर्यदेव बना दिया है। सूर्य देवता। जो हिंदू धार्मिक मान्यताओं के अनुसार पुरुष देव है। जबकि पोनोमसोर और सिंगबोंगा दोनों ही आदिवासी धार्मिक विश्वास के अनुसार लिंगविहीन हैं। वे न स्त्री हैं और न ही पुरुष। खड़िया लोग कैसे इस पोनोमसोर के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं, सुनिए -

ए पोनोमोसोर, ए पाट पुरखाकि
अमपे ते एले हाःकोतेजले
अमपे जे खूंट पाट गमडोमकिपे
झाड़ी कुल ते गमडोमकिपे
अमपे एलअ घड लोःखा भुईंहरी तेनकायोःपे
लुलुङ घाट, खड़िया घाट होइकोन
रोःडाः घाट आरेकिपे।

और दूसरा उदाहरण माया आदिवासियों का रख रही हूं। ग्वाटेमाला के माया आदिवासी जिनकी इंका सभ्यता दुनिया के लिए अद्‌भुत बनी हुई है। इसे मैंने पंद्रहवीं शताब्दी के माया आदिवासियों के 'रॉबिनल अची' नाटक से लिया है जिसे यूनेस्को ने 2005 में इंसानी सभ्यता का अपूर्व, अतुलनीय, अमूल्य धरोहर घोषित किया है। इस नाटक का हर पात्र अपने संवाद की शुरुआत में अपने सर्वोच्च आराध्य को इस तरह से संबोधित करता है -

ओ आकाश के पुरखे, ओ धरती के पुरखे ...

हम जो बोल रहे हैं वह तुम्हारी ही देन है
पहाड़-सी जो हमारी छाती है वह तुम्हारा ही बल है

झारखंडी आदिवासियों की गीतिकथा 'सोसेबोंगा' के पात्र भी अपने संवादों की शुरुआत ठीक ऐसे ही करते हैं-

हे आकाश और धरती के पुरखे!
देश तुम्हारा है, दुनिया तुम्हारी है।
यह जो फैला हुआ है, यह जो बिछा हुआ है।
पूरब कोने में, पच्छिम कोने में
उत्तर कोने में, दक्खिन कोने में
तुम्हारी ही सृष्टि है, तुम्हारी ही रचना है।

इस आदिवासी गीतिकथा में लौहयुग के चरम दिनों का वर्णन है। यानी कम से कम 800 ईसा पूर्व। अब आप समझ लीजिए कि आदिवासी साहित्य कितनी प्राचीनतम हैं।

मैंने आदिवासी धार्मिक विश्वासों की चर्चा इसलिए कि ताकि आप 'पुरखौती' जैसे शब्दों से हमारी जो असहमति है, उसको हमारे दृष्टिकोण से समझ सकें। हमारी कृतज्ञता को पूजा समझने और बोंगा को देवी-देवता मानने की भूल न करें।

आप सवाल कर सकते हैं कि तब आदिवासियों के वाचिक परंपरा के साहित्य को क्या कहा जाए? जो अलिखित है उसके लिए जब समूची दुनिया के विद्वानों और विश्वविद्यालयों ने 'लोक साहित्य' स्वीकार कर लिया है उसे आदिवासी क्यों नहीं माने? हमारे विचार से इसका उत्तर है। हमारी दृढ़ मान्यता है कि इसे आप सबको भी स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि जब हमारा समाज न धर्म के आधार पर, न लिंग के आधार पर और न जाति के आधार पर बंटा हुआ है तो हमें आदिवासी साहित्य को 'लोक' और 'शिष्ट' जैसे दो वर्गों में किया जानेवाला विभाजन भी मंजूर नहीं होना चाहिए। सामूहिकता और सहअस्तित्व के दर्शन पर टिका हमारा समाज ऐसे किसी भी विभेद को खारिज करता है। हमारी मजबूत समझ है कि किसी भी व्यक्ति के ज्ञान का मूल स्रोत उसकी व्यक्तिगत मेधा के बावजूद उसके समुदाय द्वारा संचित संपदा की ही देन होती है। इंसानी ज्ञान, कला-कौशल, तकनीक, सबकुछ सामूहिकता के उत्पाद हैं। इसलिए हमारा साहित्य वह चाहे आज

लिखा जा रहा हो या सदियों से कहा जा रहा हो, हिंदी का लोक साहित्य या अंगरेजी का फोक लिटरेचर नहीं है। 'ऑरेचर' है। जिसे अफ्रीका के कई आदिवासी साहित्यकारों के साथ सुप्रसिद्ध केन्याई आदिवासी साहित्यकार न्यूगी वा थ्योंगो ने प्रस्तावित किया है। न्यूगी ने 1998 में आई अपनी किताब 'पेनप्वाईंट्स, गनप्वाईंट्स एंड ड्रीम्स' में ऑरेचर की अवधारणा पर एक विस्तृत लेख लिखा है। आदिवासी साहित्य में दिलचस्पी रखनेवालों और हमारे साहित्यकारों को इसे जरूर पढ़ना चाहिए। हिंदी में 'ऑरेचर' को मैं 'पुरखौती साहित्य' कहना चाहूंगी। मतलब सामाजिक परंपरा का साहित्य। पुरखों का साहित्य।

एक दूसरी खतरनाक मानसिकता है आदिवासी साहित्य और कलाओं को अनगढ़ मानने की। सभी लोग यह स्वीकार करते हैं कि आदिवासियों का पारंपरिक वाचिक साहित्य और कलाएं समृद्ध हैं, पर अगले ही पल वे इसे अनगढ़, कच्चा और इसी तरह का बहुत कुछ कह डालते हैं। हमें इस अवधारणा के पीछे छुपे उनके श्रेष्ठता के दंभ को पहचानने की जरूरत है। दरअसल अनगढ़ कहकर वे हमारी कला-कुशलता की सुदीर्घ परंपरा को नकारते हैं और अपने 'आर्य' तथा यूरोपीय ग्रीक रचना-कौशल की उत्कृष्टता को स्थापित करते हैं। अपने पढ़े-लिखे होने और और शिक्षा व ज्ञान के विश्वविद्यालय जैसे केंद्रों को हम पर थोपते हैं। इसीलिए उनका अगला कथन फिर इस प्रकार का होता है - आदिवासी अनगढ़ता को, जो सहज, सरल और बाल सुलभ है, उसे सुघड़ बनाने की आवश्यकता है। उसमें निखार लाने व आधुनिक साज-सज्जा की जरूरत है। यह सौंदर्य की राजनीति है। मारक और सांस्कृतिक संहार की राजनीति। जिसके जरिए वे हमारे सौंदर्यबोध को मुनाफे पर टिके सौंदर्यबोध से नष्ट करते हैं।

यहां मैं विस्तार में न जाते हुए आदिवासी साहित्य और कला के एक-दो उदाहरणों से अपनी बात रखूंगी। आपसब साहित्य से जुड़े हैं इसलिए अच्छी तरह से जानते हैं कि गैर-आदिवासी साहित्य में 'महाकाव्य' अथवा 'एपिक' को विशेष प्रतिष्ठा हासिल है। रामायण-महाभारत जैसी रचनाओं को महाकाव्य कहा जाता है। महाकाव्य होने की अहर्ताएं निर्धारित हैं। आचार्य भामह इसके सबसे पहले लक्षणकार हैं जिसे बाद में चलकर दंडी, रुद्रट तथा विश्वनाथ जैसे आचार्य अंतिम तौर पर सूत्रबद्ध करते हैं। इन आचार्यों के

अनुसार जिसमें देवता या क्षत्रिय सदृश धीरोदात्त गुण से परिपूर्ण नायक हों, श्रृंगार, वीर और शांत में से कोई एक विशेष रस हो, उसकी कथा ऐतिहासिक अथवा सज्जनाश्रित हो और वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से कोई एक फल देनेवाला हो, महाकाव्य है। इसी तरह समकालीन आलोचकों ने उपन्यास को आधुनिक जीवन का महाकाव्य माना है। उपन्यास प्राचीन महाकाव्यों की तरह तो नहीं हैं, पर इसमें भी लगभग घुमा-फिराकर महाकाव्यों के लक्षण को ही यथार्थवादी नजरिए से पेश किया जाता है। जैसे अज्ञेय का शेखर एक जीवनी, यशपाल का झूठा सच आदि। जबकि झारखंड के आदिवासियों का 'सोसोबोंगा' हो या लातिन अमेरिका के माया आदिवासियों का 'रॉबिनल अची', इन दोनों ही बेहद लंबी रचनाओं में प्राचीन और आधुनिक दोनों ही समय के महाकाव्यों का कोई भी लक्षण मौजूद नहीं है। सामान्य आदिवासी गीत और कहानियों, जो आकार में बेहद छोटी होती हैं, में भी आपको कोई नायक या नायिका नहीं मिलेंगे। जो भी हैं। पहचान रहित। बस इंसान। जैसे - *जंगल में सरई फूल खिल गया है/रास्ते में नवयुवती मुस्करा रही है*। इस गीत में सिर्फ फूल है और एक नवयुती है। फूल का नाम है परंतु नवयुवती का कोई नाम नहीं है। विशेष पहचान नहीं है। आदिवासी पुरखौती साहित्य में ऐसे हजारों गीत हैं।

ऐसा ही आप आदिवासी कला को भी पाएंगे। आदिवासी पारंपरिक कला चित्रण में आप सिर्फ रेखाकृतियां देखेंगे। जैसा बच्चे बनाते हैं। ज्यामितिक आकार के चित्र। ऐसे चित्रों में आपको देह दिखेगी, उसके कार्य-व्यापार दिखेंगे, विभिन्न किस्म की गतियों का रेखांकन होगा। इससे ज्यादा कुछ नहीं। न पूरा गढ़ा हुआ मुख होगा, न नैन-नक्श होंगे और न ही किसी व्यक्ति विशेष का बोध करानेवाला चित्र होगा। ऐसा क्यों है? अध्येताओं के अनुसार जब हाथ और पैरों को अपना प्रमुख औजार बनाने में इंसान कामयाब हो गया और इन औजारों से उसने वनोपज व कृषि जैसे आजीविका के स्रोतों को स्थायी बना लिया, तो उसके हाथों की दक्षता का लाभ कलाओं को भी मिला। क्योंकि दक्ष हाथों के बिना चित्रकला का बेहतर विकास संभव नहीं था। गैर-आदिवासी समाज की कला-यात्रा में हाथों की दक्षता का विकास आसानी से चिन्हित किया जा सकता है। लेकिन आदिवासी समाज में हाथों की दक्षता के बावजूद चित्रकलाएं रेखांकन से आगे जाती नहीं दिखती हैं। कारण स्पष्ट है। उसका सामूहिक जीवनदर्शन। चूंकि

आदिवासी व्यक्ति केंद्रित नायकत्व में विश्वास नहीं रखते इसलिए उनकी कलाओं में भी 'व्यक्ति विशेष' की जगह मूल इंसान ही दिखाई पड़ते हैं। आदिवासियों के संगीत और नृत्य में भी यही सामूहिकता है। जहां कोई एकल गायक, नर्तक और वादक नहीं होता। पूरा का पूरा समूह ही नाचता, गाता और बजाता है।

इसलिए यह कहना कि आदिवासी साहित्य और कलाएं अनगढ़ हैं, सीधे-सीधे आदिवासी सामूहिकता, सहजीविता और सहअस्तित्व के दर्शन को वैचारिक रूप से नकारना है। उपभोक्तावादी भूमंडलीकरण के व्यक्ति केंद्रित लाभ के गैर-इंसानी मूल्यों को आरोपित करना है। सामूहिकता की अवधारणा को खारिज करना है। आदिवासी जो भी रचता है वही असल में सुघड़ है। कलात्मक उत्कृष्टता की पराकाष्ठा है। क्योंकि जो कला सहअस्तित्व के इंसानी मूल्यों को प्राथमिकता देने की बजाय लाभ के सौंदर्य को स्थापित करती हो, वह कैसे सुघड़ हो सकती है? इसलिए यदि सृष्टि, इंसान और इस दुनिया को बचाना है तो हमें आदिवासी साहित्य और कलाओं को बचाना होगा। अतः आदिवासी साहित्य और कलाओं को नहीं बल्कि गैर-आदिवासी साहित्य और कलाओं को आदिवासी कला परंपरा से सीखने की जरूरत है। जो पहले सामंतों और राजाओं पर निर्भर रही और अब कॉरपोरेट्स व सरकारी अकादमियों पर आश्रित है।

हमारी आखिरी बात से शायद कई लोगों को निराशा हो। क्योंकि जब मैं यह कह रही हूं कि आदिवासी साहित्य प्रतिरोध का साहित्य नहीं है तो आप सबको लग सकता है कि मैं आदिवासी साहित्य की धार कुंद कर रही हूं। यह अवधारणा मैं आदिवासी पुरखौती परंपरा के आधार पर रख रही हूं कि दलित साहित्य की तर्ज पर आदिवासी साहित्य वेदना और विद्रोह का साहित्य हर्गिज नहीं है। आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इंसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करनेवाला साहित्य है जो मानता है कि प्रकृति और सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुंदर है। असुंदर और फालतू जैसा कुछ भी नहीं है। और इसे वह सिर्फ मानता नहीं है, बल्कि माने हुए को जीता भी है। आप आदिवासी साहित्य का वाचिक अध्ययन करें, पाएंगे कि एक भी आदिवासी गीत वेदना, असंतोष, विद्रोह का नहीं है। किसी भी पुरखौती गीत अथवा कहानी में किसी का प्रतिकार नहीं

है। न ही किसी की कोई अवमानना है। आर्थिक दुःखों का तो जिक्र तक नहीं है। कुछ गीत और कहानियां मिलेंगी भी तो अपवाद की तरह। ऐसे अधिकांश गीत और कथाएं मूलतः औपनिवेशिक गुलामी के बाद के दिनों की हैं। इसे समझने की जरूरत है कि हम आदिवासी साहित्य की मूल प्रवृति हजारों वर्ष की परंपरा को मानेंगे या फिर दो-तीन सौ सालों की नवीनतम रचनाओं को। क्योंकि साठ-सत्तर के बाद की रचनाओं में भी आपको प्रतिरोध का वैसा तीखा स्वर नहीं मिलेगा जैसा कि हम दलित या अन्य परिवर्तनकामी साहित्य में पाते हैं।

इसे समझने के लिए हमें फिर से आदिवासी विश्वदृष्टिकोण की तरफ लौटना होगा। असल में दुनिया के सभी वर्ग एक सत्ता के खिलाफ लड़ रहे हैं। जिसका लक्ष्य है लड़नेवालों की सत्ता स्थापित करना। जो वर्तमान के गैर-इंसानी मूल्यों के सत्ता की तुलना में इंसानी शक्लोसूरत और समतामूलक मूल्यों वाली होगी। सत्ता के इस चेहरे को बुद्ध, मार्क्स से लेकर गांधी और अंबेडकर तक ने अपने-अपने ढंग से रचने की कोशिश की है। उनके फॉलोवर अभी भी कोशिशों में लगे हैं। हम सभी को पता है कि कुछ विकृतियों या खामियों के साथ इन सबकी कल्पनावाली सत्ताएं विभिन्न कालखण्डों में और भिन्न-भिन्न देशों में आती-जाती रही हैं। जबकि आदिवासियों की दिलचस्पी निरंतर युद्ध के बावजूद भी सत्ता में कभी नहीं रही है। वे सिर्फ यही कहते हैं - बीर, बुरू ओकेया ओकेया। यानी जल, जंगल जमीन हमारा है हमारा है। हमारा मतलब समूचे इंसानी जगत का। तो जिसका लक्ष्य सत्ता नहीं है, जिसकी लड़ाई इंसान की उन प्रवृतियों से है जो व्यवस्थाएं बनाकर अपने-अपने ढंग से समाज-दुनिया को शासित करना चाह रहे हैं, वह मूलतः प्रतिरोध का नहीं, सृजन का पैरोकार है।

हमारी समझ के हिसाब से आधुनिक आदिवासी साहित्य जिसकी काल-परिधि औपनिवेशिक दिनों को छूती है, मूल रूप से असहमति का सृजन है। आदिवासी समाज उन मूल्यों से असहमत है जिससे दुनिया को अंततः नष्ट होना है। वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है। उसकी चिंताओं में पूरी सृष्टि, समष्टि और प्रकृति है। जिसका एक प्रमुख अंग इंसान भी है। जबकि अन्य वर्गों के साहित्य में इंसान केंद्र में है। आदिवासी साहित्य के केंद्र में इंसान है ही नहीं। वहां समष्टि है, प्रकृति है, समूची दुनिया है।

नदी, नाले, पहाड़, जंगल, पंछी, जानवर, धरती, आसमान, तारे, रात-दिन हैं। हम दरअसल उनके ही विरोधी मूल्यों को स्वीकार कर सृजनात्मकता के आदिवासी साहित्य को प्रतिरोध का साहित्य कह रहे हैं। यानी एक तरफ वर्तमान सत्ता का साहित्य है तो दूसरे छोर पर उसके खिलाफ संभावित सत्ता का साहित्य है। प्रतिरोधी साहित्य। सत्ता की कामना से प्रतिरोधी साहित्य भी अलग नहीं है। हां, फर्क सही है कि वह ज्यादा न्यायप्रिय, समतावादी होने का दावा कर रहा है। जबकि आदिवासी जीवनदर्शन में सत्ता के लिए कोई जगह ही नहीं है। सत्ता, जो शासित करती हो।

सारतः मैं यही कहूंगी कि हमें आदिवासी विश्वदृष्टिकोण अर्थात् आदिवासियत को गहराई से समझने की जरूरत है ताकि आदिवासी साहित्य विमर्श हम अपने सौंदर्यबोध और अपनी मौलिक शब्दावलियों के साथ आगे बढ़ा सकें। अगर कहीं से हमें सीखना ही है तो सबसे पहले हमें अपने पुरखौती यानी वाचिक साहित्य का पुनर्पाठ करना चाहिए। उसी में हमारा सौंदर्यविश्व निहित है जिससे लैस होकर हम ग्लोबल हो चुके सांस्कृतिक सत्ता से निर्णायक राजनीतिक युद्ध कर सकते हैं। इसलिए हम न लोक हैं, न अनगढ़ हैं और न ही प्रतिरोधी हैं। हमारा समाज रचनात्मक है तो हमारा साहित्य भी सृजनात्मक है। गैर-आदिवासी विश्व का धर्म और विश्वास का मनुष्य इस दंभ से भरा है कि वह 84 लाख योनियों में सबसे श्रेष्ठ है। लेकिन आदिवासी विश्वास श्रेष्ठता के इस दंभ से असहमति रखता है। वह मानता है कि इस समूची समष्टि में वह भी महज एक प्राणि है। अन्य प्राणियों एवं समस्त वस्तुजगत से अपने बौद्धिक सामर्थ्य के बावजूद वह कोई विशिष्ट जीव नहीं है। सारतः हम अपने पुरखों के उस कथन में विश्वास करते हैं जिसके अनुसार इंसान दुनिया का मालिक नहीं, मात्र केयरटेकर है।

सहजीवी समझ का विस्तार हैं आदिवासी कलाएँ

प्रकृति के साथ इंसान का रिश्ता आदिम है। इस रिश्ते की सघनता आदिवासी समाज की जीवनशैली और उसके पुरखा परंपराओं में आज भी देखी जा सकती है। यदि आधुनिक विकास प्रकृति के साथ निरंतर युद्ध है, तो परस्पर विरोधी प्रकृति के बावजूद साहचर्य की जनतांत्रिक सामूहिक पद्धति क्या हो सकती है, आदिवासी जनजीवन इसका सुंदर उदाहरण है। यही वजह है कि आदिवासी परंपराओं में, उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में तथा कलाओं में यह सहजीवी जीवनदर्शन बड़ी स्पष्टता के साथ दिखायी पड़ती है। झारखण्ड के आदिवासी समुदाय की कलाएं चाहे वह स्थापत्य हो, चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, नृत्य हो या फिर अन्य दूसरी प्रदर्श्यकारी कलाएं सबका मूल मर्म यही है। इंसान की मौलिक जीवनदृष्टि और सामूहिक समझ का अनंत विस्तार आदिवासी कलाओं में है। सृष्टि के अद्‌भुत सौंदर्य तथा जीवन राग के विविध रंगों का यह आदिवासी 'विश्व' उनकी देशज तकनीक और ज्ञान-विज्ञान की भी सुदीर्घ परंपरा से हमारा परिचय कराती हैं।

आदिवासी कला एवं संस्कृति में चित्रकला संभवतः सबसे पहली भाषिक अभिव्यक्ति है। अपने भावों, विचारों और सुख-दुख के व्यक्तिगत, सामाजिक व प्रकृतिगत, सभी रूपों को वर्तमान तथा भविष्य के साथ साझा करने का यह सर्वप्रथम प्रयास रहा होगा। चित्रकला भाषा की चाक्षुष अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति के इस चाक्षुष कला रूप की झारखंड के आदिवासी समुदायों में बेजोड़ परंपरा रही है। राज्य के हजारीबाग जिले के बड़कागांव स्थित इस्को की गुफाओं में उकेरे गये शैल चित्र कई मायनों में अद्‌भुत हैं। विदेशी पुरातत्ववेत्ताओं ने भारत के अन्य जगहों की शैल चित्रों के मुकाबले इस्को के चित्रों को सर्वाधिक उन्नत माना है। इस्को गुफाओं में

मुख्य रूप से तीन शैल दीर्घाएं हैं। इन दीर्घाओं में मानव एवं पशु आकृतियों की भरमार है। शिकार के चित्र स्वाभाविक रूप से तो हैं ही विभिन्न प्रकार के पक्षी, चन्द्रमा, सूर्य एवं कमल के चित्रों की कारीगरी भी देखते बनती है। शैलचित्रों का समुच्चय मानो कोई लिखित दस्तावेज हो। कथा कहती हुई. ये चित्र गेरू तथा खड़िया के सहयोग से बनाये गये हैं। साथ ही वनस्पतियों का भी प्रयोग हुआ है जिससे हजारों साल बाद भी इन चित्रों की ताजगी बनी हुई है। रंग धूमिल नहीं हुए हैं।

गिरिडीह, गढ़वा, रांची, लोहरदगा, गुमला एवं हजारीबाग में ऐसे शैलचित्रों की अनेक शृंखला हाल के दिनों में अस्तित्व में आयी हैं। गढ़वा जिले के शैलाश्रय कैमूर पर्वत में मौजूद हैं। चूने पत्थर का यह पहाड़ शैलाश्रयों के निर्माण में प्राकृतिक रूप से सर्वथा अनुकूल है। इन चित्रों को गेरू मिश्रित घोल एवं कुची की सहायता से बनाया गया है। ज्यादातर चित्र प्राकृतिक शैली में हैं। जानवरों के चित्रों में स्वाभाविक गरिमा देखा जा सकता है। इसके अलावा गिरिडीह, कोडरमा एवं चतरा के टंडवा से प्राप्त शैल चित्र भी प्राचीन काल की रोचक कहानियां कहती हैं। चित्रों में नृत्य, शिकार, सामाजिक रीतिरिवाज, धार्मिक विश्वासों, सांस्कृतिक परंपराओं, पशुपक्षियों, पेड़-पौधों के नमूने मौजूद हैं। प्रकृति के साथ-साथ पशु-पक्षियों के प्रति कृतज्ञता एवं धर्म तथा जादू से संबंधित चित्र भी आकर्षित करते हैं। अब तक झारखंड में अमूमन पचास चित्रित शैलाश्रयों की खोज की जा चुकी है। राज्य के विभिन्न भागों से प्राप्त शैलचित्रों की अपनी अलग-अलग विशेषताएं हैं। कहीं ज्यामितिक चित्रों की प्रमुखता है तो कहीं पशु-पक्षियों की।

प्रागैतिहासिक समाज से शुरू हुई चाक्षुष कला की यह परंपरा आज के आदिवासी समाज में भी अविच्छिन्न रूप से जारी है। अगर शैलीगत विशिष्टता की बात करें तो जादोपटिया, कोहबर और सोहराय शैली प्रमुख हैं। जादोपटिया प्रधानतः संतालों की परंपरागत चित्रकला है, तो कोहबर सदान समाज का और सोहराई लगभग झारखंड में रहने वाले आदिवासी एवं गैर आदिवासी सभी समुदायों का। 'जादोपटिया चित्रकला' को संताल समुदाय पटचित्र भी कहते हैं। जादोपटिया के संबंध में संतालों में एक पुरखौतीगीत प्रचलित है-'आम दो जुगी हो जुगी दिसोमएम डाढ़ाना ईंगरेन ईगिञ अ़पुञ ञाक् मुथ़ाञ रेआक् बेनाव आ़गुवा़ञ में' अर्थात् ओ जोगी तुम

बहुत दूर-दूर जाते हो, कृपया मेरे मृत माता-पिता की तस्वीर बनाकर मुझे दे दो। जादो से महिला विनती करती है कि मेरे मृतक माता-पिता की तस्वीर बना कर बताओ कि वे किस पुरखौती में हैं। जादो मृत व्यक्ति का चित्र बनाता है, उसके कर्मो के आधार पर। जादोपटिया चित्रकला शैली पारिवारिक कलाकारों के एक समुदाय का नाम है। यह समुदाय चित्रकारी करके ही अपना जीविकोपार्जन करता है। आदिवासी पुरखा-कला के रूप में इस चित्रकला शैली का अपना अद्वितीय स्थान है। जादोपटिया शब्द जादो और पट्ट से बना है। संताली में पटिया का अर्थ है - एक रोल जो घुमावदार हो। जादो रोल में चित्र बनाकर लपेटता है और दिखाता है। रोल की लम्बाई 6 फीट से 10 फीट एवं चौड़ाई 8 इंच से 12 इंच होती है। रोल को पटिया कहते हैं और बनाने वाले जादो होते हैं, इसलिए इसे जादोपटिया कहते हैं।

चित्र बनाने में जादो प्राकृतिक रंगों का प्रयोग करते हैं। रंग बनाने के लिए पेड़ का छाल, पत्ता, जड़ एवं चावल का पाउडर आदि का प्रयोग करते हैं। रंगों में काला, पीला, हरा और लाल रंग का प्रयोग किया जाता है। लाल रंग का प्रयोग कम से कम होता है। चित्रकार पृथ्वी के निर्माण एवं संतालों के आदि पुरुष पिलचू हाड़ाम एवं पिलचू बुढ़ी के चित्र बनाते हैं। संताल अपने को इन्ही का वंशज मानते हैं। इसी पट चित्र शैली का एक रूप पटकार चित्र शैली भी है जो झारखण्ड के पूर्वी एवं पश्चिमी सिंहभूम के क्षेत्र में बनाया जाता है।

कोहबर चित्रकला वर्षों पुरानी शैल चित्रों का विकसित रूप है। जो घर के दीवारों पर झारखंडी महिलाओं द्वारा बनाया जाता है। यह अत्यंत सरल, कलात्मक और सुस्पष्ट होता है। बच्चे जिस तरह से वर्णमाला की पुस्तक पढ़ते है, ठीक उसी तरह से कोहबर चित्रों को कोई भी आसानी से पढ़ सकता है। इन चित्रों का विषय सामान्यतः सांकेतिक रूप में पुरुष-स्त्री संबंध, पशु-पक्षियों, पेड़-फल-फूल-पत्तियों, जादू, टोने-टोटके के विभिन्न रूप एवं सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतीकचिन्ह होता है। जो वंश को आगे बढ़ाने के लिए प्रचलित एवं मान्य हैं। चित्र बनाने के लिए मुख्य रूप से गेरूवा, काला, पीला, हरा आदि रंगों का इस्तेमाल किया जाता है।

इसी प्रकार सोहराई चित्रकला का भी अपना एक अलग ही महत्व है। सोहराई पर्व फसल कटने के तुरन्त बाद ही मनाया जाता है। इस मौके

पर आदिवासी एवं सदान परिवार अपने घरों के अन्दर एवं बाहर के दीवारों पर कृषक जीवन के सबसे सुखमय समय के भावों की चित्रकारी करते हैं। सोहराई के दिन गाँव के लोग अपने पशुओं को सुबह जंगल की ओर ले जाते हैं एवं शाम में घर लौट आने पर उन पशुओं का घर के दरवाजे पर स्वागत किया जाता है। इस क्रम में वे अपने घर के दरवाजे पर चावल के गुंडी द्वारा अरिपन का चित्रण दरवाजे पर करते हैं। सोहराई चित्रकला बनाने के लिए सामान्यतः कत्था, लाल, सफेद रंगों का प्रयोग किया जाता है। इस कला को भी महिलाओं के द्वारा ही चित्रित किया जाता है। इसके अलावे बंदना चित्र शैली भी उल्लेखनीय है। इस शैली के चित्र आदिवासी समुदाय के लोग अपने महान पर्व 'करमा' के मौके पर अंकित करते हैं। अल्पना की तरह बनाये जाने वाले इन पारंपरिक चित्रों को पत्तियों एवं फूलों से बनाया जाता है। अल्पना के बीच में कुल माता के पैरों की रूपरेखा बनायी जाती है। इसके लिए चिकनी मिट्टी, लकड़ी के बुरादे का प्रयोग किया जाता है।

आदिवासी चित्रकला परंपरागत रूप से आदिम अभिप्रायों की अभिव्यक्तियों का गुच्छा है। इस लिहाज से आदिवासी चित्रकला प्रतीक, चिन्ह, मिथक, आस्था, विश्वास, अलंकरण, सौंदर्य तथा स्मृतियों के रूपाकार में मानवीय जीवनमूल्यों की समृद्ध विरासत है। घर की दीवारों, चौखट, किवाड़ों, खिलौनों तथा जीवन के उपयोग में आने वाली सभी आवश्यक उपकरणों पर इस कला-परंपरा की उपस्थिति है। यहां तक की शरीर पर भी। जिसे हम गोदना के नाम से जानते हैं और आज जिसे टैटू कहा जा रहा है। झारखण्ड के खड़िया, उरांव और संताल समाज में तो गोदना की परंपरा का महत्व उनकी पहचान के साथ जुड़ा है। चित्रकला की दृष्टि से गोदना में गढ़ी जाने वाली छोटी से लेकर बड़ी आकृतियां उस समुदाय की विशिष्ट संस्कृति की वाहक होती हैं।

पारम्परिक पुरखौती संगीत, गीत-नृत्य एवं पुरखौती नाट्य

झारखण्ड का पारम्परिक आदिवासी जीवन पुरखा संगीत, गीत-नृत्य एवं नाट्य से ओत-प्रोत हैं। झारखण्ड की संस्कृति में जहाँ एक ओर पर्व-त्यौहार एवं जतरा मेलों का आयोजन जीवन के हर रस को महसूस करने का माध्यम है ठीक उसी प्रकार पारंपरिक पुरखा संगीत, गीत-नृत्य एवं नाट्य इनमें जीवन के हर रंग को भरने की कोशिश करते हैं। कोई भी पर्व-त्यौहार

बिना संगीत, गीत-नृत्य एवं नाट्य के अधूरे हैं। यह आदिवासी जन-जीवन की सामूहिकता की एक पहचान है। नृत्य की कला आदिम युग से जुड़ी है। पुरखौती संस्कृति को उजागर करने वाला आदिवासियों का नृत्य व गीत देखने एवं सुनने वालों को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। आदिवासी समाज में अलग-अलग मौसम, पर्व-त्यौहार एवं अन्य अवसरों के लिए अलग-अलग गीत-नृत्य का विधान है। फगुवा, डमकच, हढिया, इंदड़धरा, लुझरी, रसकिर्रा, पहिल सांझा, अधरतिया, भिनसरिया, मरदानी झूमइर, जनानी झूमइर, सोहराई, नटुआ, कली नचनी, खेदली, घोडा, जदुर, ओर जदुर, जापी गेना, चिटिद, करम, खेमटा, जरगा, ओर जरगा, बूढ़ीकरम, बुरू, जाली, राचा, डाहार, बाहा, दोड़ा दोंगड़े, आषाढिया, शिकारी, दसंग, दोसमी, साकरात, फग्गू खद्दी, डोडेंग, घुरिया, छेछड़ी, कुवार, डोयोर, हो नृत्य, मागे, बा, हेरो आदि नृत्य काफी पुरखौतीप्रिय हैं। ये सभी पुरखौती नृत्य एकल नहीं बल्कि सामूहिक होते हैं। जो हमें समाज से जोड़ते हैं। एक दूसरे का हाथ पकड़ कर वे केवल नाचते नहीं, अपने समाज में पारस्परिक सहभागिता और सबको शामिल होने का बिम्ब भी बनाते हैं। आदिवासियों में नृत्य की चार प्रमुख रीतियाँ पायी जाती हैं। एक रीति ऐसी है जिसमें औरत-मर्द साथ मिलकर घेरा बनाकर नाचते हैं। दूसरी रीति में नाचने वालों की दो पंक्तियाँ होती है। तीसरी रीति, जिसमें दो पंक्तियाँ होती हैं, उसकी एक पंक्ति में सिर्फ औरतें एवं दूसरी पंक्ति में केवल मर्द होते हैं। चौथी रीति में महिलाएँ एवं युवतियाँ जोड़े में नाचती हैं।

छऊ नृत्य नाट्य को तो राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय पहचान और सम्मान प्राप्त है। यह नृत्य सरायकेला के अलावे उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल का भी मुख्य नृत्य है। यह ओजपूर्ण नृत्य की शैली है, जिसमें पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथाओं के मंचन के लिए कलाकार भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे मुखौटों को धारण कर बड़े ही आकर्षक अंदाज में सामूहिक नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। छऊ की मुख्यतः तीन शैलियां है - सरायकेला छऊ, मयुरभंज छऊ और पुरूलिया छऊ। इसके अतिरिक्त मुण्डाओं का पाइका नृत्य भी वीर रस का नृत्य है। छऊ की तरह ही पाइका में भी शारीरिक भाव-भंगिमाओं, गति संचालन का बेजोड़ समन्वय है। फर्क सिर्फ इतना है कि छऊ में मुखौटों और कथा का प्रयोग होता है जबकि पाइका में ये दोनों तत्व

नहीं हैं। पाइका नृत्य युद्ध संरचना लिए हुए है। यह नृत्य शैली आदिवासियों के इस विश्वास और साहस को लयात्मक ढंग से अभिव्यक्त करती है कि अपने राज्य, अपनी संस्कृति तथा जीवन की रक्षा के वे लिए हमेशा तैयार एवं तत्पर हैं।

झारखण्डी आदिवासी समाज के नृत्यों में प्रायः गीतों की प्रधानता होती है। इन गीतों के राग, नृत्य की मुद्रा को प्रतिबिंबित करते हैं। राग, नृत्य और वाद्य वृन्द के लय-ताल के अनुसार परम्परागत आदिवासी पुरखौतीगीत अलग-अलग तरह के हैं, जैसे- दोड, लागड़ें, बहा, सोहराई, डाहार, दासांय, जदुर, गेना, करमा, जगरा, जतरा, जपी, लहसुआ आदि। जो झारखण्ड के प्रमुख आदिवासी पुरखौतीगीत हैं। जीवन में घटित होने वाले सुख-दुख, संयोग-वियोग, आशा-निराशा, हास्य-विनोद आदि के आकर्षक शब्द चित्र इन पुरखा गीतों के आईने में साफ-साफ प्रतिबिंबित होते हैं। काम और प्रेम मानव मन की आदिम वृत्तियों में से हैं जिनके भावचित्रों की झलक भी इन आदिवासी पुरखा गीतों में स्पष्टतः दिखाई पड़ते हैं। आदिवासी पुरखौती संगीत के अंतर्गत संताली, मुण्डारी, हो, खड़िया, उराँव एवं अन्य संगीत को रखा जाता है। क्षेत्रीय संगीत में नागपुरी, खोरठा, पंचपरगनिया और कुरमाली के गीत आते हैं।

अखड़ा या धुमकुड़िया में जब युवक मांदर की 'तांग तांग गितांग धूर' की मधुर ताल छेड़ता है तब युवतियों के पाँव घरों से निकल कर अखड़ा तक पहुँचते हैं और स्वतः ही जुड़ जाते हैं, उनके बीच हाथ से हाथ। ये अपने वाद्ययंत्रों में ढोलक, ढोलकी, टमक, करह, रबका, चोड़चोड़ी, हेचका, घंट, रेगडा, घुघरा, रामकठी, सेकोए, निरियो, संखवा, कुडुदूतू, भेदूर, नरसिंघा, मुरली, डमरू, कारहा, खंजरी, चांगु, मंदिरा, थाला, बांसुरी, तुमड़ी, तांत, टोहिला, साहेमी आदि का प्रयोग करते हैं। इन वाद्ययंत्रों को प्रायः पीटकर, रगड़कर, फूंककर तथा हिलाकर बजाया जाता है। आदिवासियों के इन्ही वाद्ययंत्रों को विकसित कर शास्त्रीय नाम दिया गया है। नृत्य-गीत-संगीत तथा वाद्ययंत्र आदिवासियों के प्राण हैं, जो स्वाभाविक रूप से आदिवासी अंतःकरण से स्पंदित होकर प्रस्फुटित होता है।

गांव का अखड़ा वह सार्वजनिक और सामुदायिक स्थल है जहां समाज के प्रशासनिक कार्यों से लेकर सभी सांस्कृतिक आयोजन संपन्न होते

हैं। अखड़ा आदिवासी परंपरा के अनुकूल ही भेदभाव रहित होता है। प्रकृति के पंच तत्वों की तरह ही सबके लिए सर्वसुलभ। इस अखड़ा में चाहे पर्व-त्योहार हो या फिर समाजिक उत्सव, कोई दर्शक नहीं होता। सबके सब सामूहिक भागीदार होते हैं। अखड़ा में कौन विशिष्ट है और कौन साधारण, यह कोई नहीं बता सकता। पुरखौती परंपरा की ऐसी मिसाल शायद ही किसी और समाज में देखने को मिले।

वंदना टेटे

जन्म: 13 सितम्बर 1969
समाज कार्य (महिला एवं बाल विकास) में
राजस्थान विद्यापीठ (राजस्थान) से स्नातकोत्तर

- हिन्दी एवं खड़िया में लेख, कविताएं, कहानियां स्थानीय एवं राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा आकाशवाणी रांची (झारखंड) एवं उदयपुर (राजस्थान) से लोकगीत, वार्ता व साहित्यिक रचनाएं प्रसारित.
- सामाजिक विमर्श की पत्रिका 'समकालीन ताना-बाना', बाल पत्रिका 'पतंग' (उदयपुर से प्रकाशित) एवं झारखण्ड आंदोलन की राजनीतिक पत्रिका 'झारखण्ड खबर' (रांची) का उप-संपादन. झारखण्ड की पहली बहुभाषायी पत्रिका 'झारखण्डी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' (2004 से), खड़िया मासिक पत्रिका 'सोरिनानिङ' (2005 से) तथा नागपुरी मासिक पत्रिका 'जोहार सहिया' (2006 से) का संपादन-प्रकाशन.
- प्रकाशित पुस्तकें: 'पुरखा लड़ाके', 'किसका राज है', 'झारखंड एक अंतहीन समरगाथा' और 'पुरखा झारखंडी साहित्यकार और नये साक्षात्कार'
- समाज के शोषित एवं वंचित समुदाय, विशेषकर आदिवासी, महिला, शिक्षा, साक्षरता, स्वास्थ्य और बच्चों के मुद्दों पर पिछले 15 वर्षों से राजस्थान व झारखंड में लगातार सक्रिय.
- 2004 में आदिवासी व देशज लेखकों, भाषाविद्, संस्कृतिकर्मी, साहित्यकार और बुद्धिजीवियों के संगठन झारखण्डी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा की स्थापना.
- महिला सवालों एवं सामाजिक, शैक्षणिक व स्वास्थ्य विषयों पर नुक्कड़ नाटकों में अभिनय, विभिन्न नाट्य संस्थाओं में सक्रिय भागीदारी तथा कई नाट्य कार्यशालाओं का निर्देशन-संचालन.
- वर्तमान में झारखण्डी भाषा-साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षण, संवर्द्धन और विकास के लिए प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, रांची के साथ सक्रिय

ISBN 978-93-81056-37-0
9 789381 056370

PYARA FOUNDATION
प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन
चेशायर होम रोड, बरियातु, राँची-834009 झारखण्ड